BHAMINI VILAS

BY

PANDITRAJ JAGANNATH

EDITED WITH

A DEVA NAGRI TRANSLATION

BY

MAHAVIR PRASAD DWIVEDI

HEAD TELEGRAPH INSPECTOR

I. M. RAILWAY

JHANSI

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS

Shri-venkateshwar Press.

BOMBAY.

1894

TO

PUNDIT MURLIDHAR MISRA

DEPUTY INSPECTOR OF SCHOOLS

CAWNPORE

THIS

TRANSLATION OF THE FAMOUS POEM

BHAMINI-VILAS

IS

RESPECTFULLY DEDICATED

BY

MAHAVIR PRASAD DWIVEDI

श्रीगणेशायनमः

श्रीमत्पंडितराज जगन्नाथ प्रणीत

भामिनी-विलास

नामक संस्कृत काव्य का

अवधमंडलांतर्गत रायबरेली प्रांतस्थ

दौलतपुर निवासी

महावीर प्रसाद द्विवेदी

हेड टेलिग्राफइन्स्पेक्टर आय॰ यम॰ रेलवे झांसी

विरचित

मूलश्लोक सहित देवनागरी

भाषानुवाद

यह पुस्तक

खेमराज श्रीकृष्णदासने

स्वकीय श्रीवेङ्कटेश्वर छापखानेमें

छापके प्रसिद्ध किया

संवत् १९५० शके १८१५

श्रीमान ।

पंडित मुरलीधरे मिश्र

डिप्यूटी इन्स्पेक्टर आफ् इस्कूलस्, कानपुर को

भामिनी विलास नामक सुप्रसिद्ध संस्कृत

काव्यका यह देवनागरी

भाषांतर

महावीर प्रसाद द्विवेदीने

नम्रता पूर्वक अर्पण किया ।

भूमिका।



किसी नूतनग्रंथका वाचन आरंभ करनेके पहिले ग्रंथकारका जीवनचरित्र, उसका काल, ग्रंथनिरमाणकारण इत्यादि विषयोंके जाननेकी उत्कंठा सर्व रसज्ञ वाचकोंके मनमें स्वभावतः आविर्भूत होती है। परंतु, भारतवर्षमे कवियों, राजाओं तथा अपर प्रसिद्ध पुरुषोंके जीवनचरित्र लिखनेकी विशेष परिपाटी प्राचीनकालमें न होने से, वाचकोंकी मनस्तृप्ति इस विषयमें कहां तक सुफल होती है यह बहुधा सर्वग्रंथवाचकसमूहको विदितही है। 'इतिहास' के लाभ और उसके ग्रंथनकी प्रथा हमारे पूर्वज न जानते थे यह कहना योग्य नहीं, क्योंकि, 'राजतरंगिणी,' 'श्रीहर्षचरित' 'विक्रमाकेंदेवचरित' आदिक इतिहास गीर्वाण भाषामें अद्यापि विद्यमान हैं। 'राजतरंगिणी' में काश्मीर देशका इतिहास है, इसमें भिन्न भिन्न पंडितोंने अकबर बादशाहके समयतकका भली भांति वर्णन किया है। दूसरे दो अपने अपने नामके राजाओंके चरित्रदर्शक हैं और अनुक्रम से 'बाणभट्ट' और 'बिल्हण' के रचेहुए हैं। 'इतिहास' शब्दमें जिनका समावेश होसके ऐसे केवल यही ग्रंथत्रय मेरे अवलोकनमें आये हैं। हमारे पूर्वजोंने कितने और कौन कौन ऐतिहासिक ग्रंथ निर्माण किए इसका पता लगाना इस समयमें बहुधा असंभव होगया है। प्रस्तुत कालमें इस विषयके ग्रंथोंके उपलब्ध न होनेका कारण या तो अनेक मतांतरवालोंके द्वारा या अन्यदेशीय राज्यसत्तात्मक फेर फारके संचारसे नष्ट होजाना है। अथवा यह कहना भी कुछ अंश अयोग्य न होगा कि हमारा देश पूर्वकालमें स्वतंत्रावस्थानमें रहा और इसी से वर्णन योग्य चमत्कारिक कथा हमारे संस्कृत विद्वानोंको न मिली कि जिससे वे किसी मनोहर

इतिहासको जैसे 'ग्रीस' देशके महाकवियोंने रचा निरमाण करते।
'राजतरंगिणी' में इतिहासप्रशंसात्मक इस प्रकारका लेख है:-

कोऽन्यः कालमतिक्रांतं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कविप्रजापतीं स्त्यक्त्वा रम्य निर्माणशालिनः॥

२ 'भामिनी विलास' की भूमिकामें इतिहास पै निबंध लिखते बैठना मेरा अभिप्राय नहीं, परंतु प्रस्तुत काव्यके कर्ता पंडितेन्द्र जगन्नाथरायके चरित्रका दिग्दर्शन कराना है इससे इतिहासके विषय में कुछ लिखना मैंने योग्य समुझा।

३ वस्तुतः पंडितराजके विषयमें चार अक्षर लिखनेका मार्ग रहाही नहीं यह कहना अयथार्थ है ऐसा नहीं। हां' उनके ग्रंथोंसे कुछ अत्यल्प वृत्त उनका जाना जा सकता है परंतु जो तत्त्व जीवनचरित्र म उपलब्ध होता है वह कहाँ और महान प्रयत्नसे ग्रंथोंके कथान-कादिकसे एकत्रकीगई वार्ता कहां ?

४ कवियोंके जीवनवृत्त विस्तृतहोने और उनके पश्चात् तद्विषयक ज्ञान प्राप्त होनेके केवल दो मार्ग हैं। एक तो यहकि उनके चरित्र दूस-रोंके द्वारा लिखा जाना अथवा जीवनावस्थामें अपनी दिनचर्या स्वयं लिखना; दूसरा यह कि अपने ग्रंथमें स्वविषयक, लेख यदि सविस्तर नहीं तो संक्षेपही प्रकाशित करना। प्रथम प्रकारका तो नामहीं न लेना। न तो किसी कवि ने दिनचर्या लिखी और न किसी विद्वानने उनके चरित्र प्रगट करनेके हेतु से अपनी कुशल लेखनाक्रियाका व्यय किया। जिन महानुभावोंसे विद्याध्ययन करके षट्शास्त्रमें पारंगत हुए और जिनके प्रसादसे आद्वितीय काव्य, नाटकादिक निर-माण करने की शक्ति पाई उनका नाम जीवित रखने तथा उनको

१ रम्य अर्थसृष्टि निर्माणकरनेवाले प्राति ब्रह्मदेवही ऐसे जो कवि उनके आतिरिक्त पुरातन कालकी स्थिति पुनर्वार दृष्टिगोचर करनेकी सामर्थ्य और किसमें है?

शुभचरित्र वर्णन करने की अभिरुचिने हमारे पूर्वजोंके हृदय न उत्कंठित किये यह कितना आश्चर्य है? मनुष्यजातिके वर्णन में सरस्वती भांडारका अपव्यय होगा यह समुझ उस विषयको न स्पर्श किया ऐसा तो नहीं? दूसरे प्रकार में भी एक दो ग्रंथकारोंके अतिरिक्त बहुधा किसीने लेखनी नहीं उठाई। कविकुलगुरु कालिदासने अधिकतो क्या वरन अपना नाम तक निज ग्रंथोंमें नहीं दिया। उसकी कीर्तिके प्रथमहीसे दिगंतरमें प्रसरित होनेके कारण उसके ग्रंथ समस्त राष्ट्रमें अत्यंत प्रिय व वंद्य जो न होजाते और जो उसने नाटक न रचे होते, तो उसके नामके लोप होजानेका भी संभव था। श्रीहर्ष, भवभूति आदिक संस्कृत कवियोंने अपनी कुलकथा अत्यंत संक्षेप रीतिसे अपने ग्रंथोमें दी है, परंतु केवल पिता, माता, नगर इत्यादिका नामोल्लेख कितना अर्थप्रद है इसका अनुमान सहजही हो सकता है। निजकृत 'श्रीकंठचरित,' 'हर्षचरित' व 'विक्रमार्क देवचरित' में क्रमसे 'मंखक' 'बाण' और 'बिल्हण' कवियोंने अपना सविस्तर वृत्तांत दिया है और इसीसे स्वविषयक इतिहास लेखन प्रणालीमें इन्हीं कवियोंको अग्रगण्य समुझना चाहिए। स्वइतिहास लेखानुयायी चाहे और भी कवि हों परंतु संस्कृतभाषाके जितने चाहिए उतने ग्रंथ मेरे निरीक्षणमें न आनेसे इस विषयका अधिक ऊहापोह करना मेरा शक्तिगोचर नहीं। प्रस्तुत शताब्दीमें भाषाकवि कुछ सचेत हुए हैं और अपने अपने ग्रंथमें स्ववृत्तवर्णन विषयक उल्लेख करने लगे हैं। हमारे भाषा कविपुंगव 'सूरदास,' 'तुलसीदास' आदिकने अपने अपने ग्रंथोंमें मनका संबोधन कर निजनाम निर्देश ठौर ठौर पै किया है; परंतु उनका अनुकरण करके सांप्रत पद्यकार अब एक विचित्र प्रथाको उत्तेजित कर रहे हैं। यह प्रति पद्यमें निज नामकथन प्रयोग है। कहीं कहीं तो इस नाम कथन की अत्यंतही निर्भत्स्र्ना हुई है! नामोल्लेख विना कवित्वके हरण किये जाने

और अन्य कविके नामसे प्रचार होने का भय है इस प्रकारकी जो कोई शंका करै उसका यही एक मात्र उत्तर है कि जिसको अन्यकृत कवित्व के अंतर्गत अपना नाम नियोजित करनेकी शक्ति होगी क्या उसे दूसरे के नाम को निकाल अपने नाम के स्थापित करने की शक्ति न होगी ? कदाचित वाचक ऐसा आक्षेप करैं कि जीवन चरित्र सम्बन्धीय लेख यदि इतना श्रेयस्कर है तो मैंने स्वयं उसका अनुकरण क्यों न किया ? इस विषयमें मुझे इतनाहीं कहना है कि एक तो मैं ग्रंथकार अथवा कविवर्ग की गणना में नहीं गिना जासक्ता क्योंकि तदर्थ जिन वस्तुओंकी आवश्यकता है वह सब मुझमें नहीं; दूसरा यह कि ग्रंथकार और भाषांतर कर्ता में महदंतर है तस्मात् मुझ सदृशके नाम ग्रामादिकका पुस्तकके प्रथम पृष्ठ पै, उल्लेख होना हीं बस है ।

५ उपरोक्त प्रतिपादन से यह सिद्ध हुआ कि प्राचीन काल में नामोल्लेखन तथा इतिहास रचन प्रथाके न होनेसे हमारे अनेक आदरणीय कवियों का कुछ भी यथा योग्य वर्णन नहीं हो सकता । हां भोज प्रबंध में इस विषय की वार्ता है परंतु वह कहां तक प्रामाणिक है यह हमारे संस्कृतज्ञ विद्वानोंको विदित ही होगा । यदि ख्रिस्तीय सम्वत् ७०० के लगभग चीनदेशका हुएन संग नामक यात्री भारतवर्षमें न आता और उस समयके बौद्ध मतानुयायी श्रीहर्ष राजा का वर्णन अपने ग्रंथमे न करता तो हमारे प्रसिद्ध 'कादंबरी' कार संस्कृत कवि बाणभट्ट के कालका निर्णय होना दुस्तर हो गया होता। इस समयमें एक अत्यंत आश्चर्य जनक बात यह कर्णगोचर क्या दृग्गोचर हो रही है कि हमारे अनेक अमूल्य संस्कृत ग्रंथ श्वेतद्वीपस्थ मुख्य मुख्य नगरोंसे प्रकाशित होने और अपने अप भूमिकामें प्रकाशकों की प्रकाशित लेखनी से स्वोत्पादक कवियों के जीवन चरित्र भी चित्र विचित्र गुण दोष निरीक्षणादिक प्रकार पूरित लेखों में

स्वदेशवासियों को सुनाने लगे हैं! क्रमशः प्राप्त होने वाले हमोर देश के मुर्खत्वरूपी राहुसे भयभीत होकर हमारा माननीय पुरातन ग्रंथ समुदाय रूपी चन्द्र अन्यद्वीपके प्रधान पुस्तकालयों में निज मान तथा कलेवर रक्षणार्थ तो नहीं पलायन कर गया? जो हो, अब मैं इस विषय को यहीं समाप्त कर कतिपय पंक्तियोंसे पंडित राज जगन्नाथरायका आदर करूंगा, क्योंकि वैसा शीघ्रही न करने से वाचक मेरे ऊपर निबंध विरुद्ध लेखनदोषका आरोप करेंगे।

६ प्रस्तुत ग्रंथकार का जीवन चरित्र न तो किसी ने लिखा और न स्वयं कविने स्वविषयक स्वतंत्र पुस्तक रूप कुछभी कहा इससे उसके ग्रंथौ तथा उसकी उन आख्यायिकौं से जो आज पर्यंत श्रुतिपथ प्रवाहित हो रही हैं जितना वृत्त उपयोगी उद्धृत हो सकेगा उतना सव्यवस्थित वर्णन किया जायगा एक वृद्ध तैलंग देश वासी पंडित जिसका और मेरा दैवयोग से समागम हुआ और जिससे कई बातैं जगन्नाथरायविषयक मैंने सुनीं वेभी इसी के अंतर्गत लिखी जायँगी।

मैंने पंडितराजकृत गंगालहरीके भाषांतरके उपक्रममें ग्रंथ कारविषयक एक लघु लेख दिया है, परंतु इस स्थलमें जहां तक संभव है तहांतक विषेश विशेष बातों का उल्लेख करने का विचार है

७ यह अर्वाचीन महान पंडित किस किस स्थान का निवासी था यह निर्णय करना तो सर्वथैव अशक्य है, परंतु इतना कह सकते हैं कि उसका जन्मदेश तैलंग होगा क्योंकि उसके 'रसगंगा-धर'नामक ग्रंथमे यह श्लोक पाया जाता हैः।

पाषाणादपि पीयूषं स्यंदते यस्य लीलया।
तं वंदे पेलुभट्टाख्यलक्ष्मी कांतं महागुरुम्॥

एतत्कन प्राणा भरणसंज्ञक ग्रंथमेंभी इसप्रकारका अंतमे एक श्लोकहै

तैलंगान्वयमंगलालयमहालक्ष्मीदयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूनुरनिशं विद्वल्ललाटंतपः।

संतुष्टः कमताधिपस्य कविता माकर्ण्य तद्वर्णनं
श्रीमत्पंडित राज पंडितजगन्नाथो व्यधासीदिदम् ॥

इससे स्पष्ट होता है कि उसके पिता का नाम पेठुभट्ट अथवा पे-रमभट्ट और माताका लक्ष्मी था। उसने गुरुदीक्षा पिताही से प्राप्त की थी इसका पिता महाविद्वान् था, उसने सर्व शास्त्रोंका परिशीलन वाराणसीमें अनेक पंडितोंसे किया था। जगन्नाथरायने विद्याध्ययन अपने पितासे किया और भली प्रकार शास्त्राकलन जब होगया तब दक्षिण भारत वर्षके 'तंजाउर' नामक संस्थान में जीविका स्वीकार की परंतु वहां उसका अनादर हुआ ऐसा उसके अश्वधाटी काव्य के इसश्लोक से स्पष्ट होता हैः

खंजायितोंधिमति गंजाऽपरोपि बत संजायतेत्र धनद
संजा धटीति गुण पुंजायि तस्य न तु गुंजामितं च कनकं ।
किं जाग्रती जयसि किं जानती स्वपिषि सिंजाननूपुरपदे
तंजापुरेशि नवकंजाक्षि साधु तदिदं जातु वा किमु शिवे १

इस कारण स्वदेश परित्याग करके उसने उत्तरकी ओर पर्यटन किया और भिन्न भिन्न संस्थानों में कालक्षेप करताहुआ देहली की ओर गया। वहां इससे और एक महम्मदमतानुयायी महात्मा से धर्म विषयक विवाद हुआ जिसमें पंडितराजने अपनी वाक् चातुर्यतासे विजय पाई। इस प्रकार उसकी कीर्ति प्रति दिन प्रवर्द्धित होने लगी, यहां तक कि वह बादशाहका आश्रित नियोजित किया गया जहां उसने स्वविद्याबल से महान् मान पाया।

८ जगन्नाथराय ने देहली में फारसी भाषा भी सीखी थी।उसका रचाहुआ संस्कृत-फारसी मिश्रित ग्रंथ सुनने में आयाहै। पंडित राज बड़े विलासी और रसिक थे। यह उनकी बहुश्रुत आख्या-

---

१ तंजोर।

यिका और काव्यरचनारूपसे, स्पष्ट विदित होताहै । ' लवंगी ' नामक बादशाहकन्यासम्बन्धीय कहानी दक्षिण भारतवर्षके सर्व साधारण पंडित जानते हैं । परंतु इस ओर जगन्नाथरायके ग्रंथों का विशेष प्रचार न होने से कदाचित् कोई वाचक उस आख्यायिकासे परिचित न होंगे, इस हेतु, उनके मनोरंजनार्थ उसका संक्षेप वर्णन मैं योग्य समझता हूं । वह इस प्रकार हैः—बादशाह के लवंगी नामक एक कन्या किसी राजपूत रानी से थी । वह सहजही अत्यंत सुंदर थी परंतु युवावस्थाके आगमनसे मन्मथाधिदेव ने, उसे अपनी समस्त चातुरीका व्यय करके इतना रमणीय किया कि मानों स्वपत्नी रतिरानीको वृद्धापकाल आने से गतयौवना जान, लवंगीहो को अपनी सहचारिणी करना इष्ट समुझा । इस कन्या ने पंडितराजकी पांडित्य, तारूण्य, रम्यरूपछटा को सखियों से सुन परम विरहाकुल होत्साती, अपने नयन रूपी चकोरद्वयको पंडितेन्द्ररूपी कलाधरके दर्शनार्थ नितांत चंचल किया । अनुकूल समय आया परंतु प्रेक्षणने उसकी व्यथा को द्विगुणित करके यह प्रतिज्ञा करवाई की मुझ लावण्यलताका अवलंबन इस पंडितकदंबके अतिरिक्त अन्य शाखी होना महान् धर्मसीमाका उल्लंघन करना होगा क्योंकि मैं इसे स्वामीभाव से ग्रहण कर चुकी । किसी समय जगन्नाथराय और बादशाह विलास मंदिर में 'बुद्धिबल ' (शतरंज*) खेल रहे थे कि द्विती-

---

* यह शब्द ' शत्रुंजय' का अपभ्रंश जान पडता है ।

१ वाचक विस्मित होंगेकि विलासमंदिर, जहां बादशाहको मंत्रिवर्ग अथवा स्ववंशके माननीय पुरुषोंके साथ खेलमें निमग्न होनाथा वहां यः कश्चित् एक पंडितका प्रवेश ! परंतु विचार करनेसे भ्रमका शीघ्रही निराकरण हो जायगा । विद्याविलासी जनोंको पंडितों तथा कवियोंसे अधिक, अन्यजन कदापि सुखप्रद नहीं हो सकते । जहां विद्या है वहां वय, जाति, धर्म, धन इत्यादिकका विवेचन नहीं किया जाता । विक्रम तथा भोजराजकी सभामें पंडित दक्षिण ओर मंत्री वाम ओर स्थान दिये जातेथे ।

याभिधानी+ जल प्राशनेच्छुक हुए । अवसर पाय लवंगी एक मनोहर लघुकलश को जल प्रपूरित करके जहां खेल हो रहा था प्रविष्ट हुई । बादशाहके मानसको वारुणी ने अपनाया था इससे उस समय एक विचित्र रंगके तरंग उसके हृदयांतर्गत उल्लासित हुए । लवंगी की ओर पंडितराज को भी अनिमेषभाव से अवलोकन करते हुए बादशाह ने देखा । इन कारणों से देहलीनरेश ने पंडितेन्द्र को, उसी वेष में लवंगी के वर्णन करने की, आज्ञा दी । तब कवि ने कहा--

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुंभा
कुसुंभारुणं चारु चैलं वसाना ।
समस्तस्य लोकस्य चेतःप्रवृत्तिं
गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति[२] ॥

इस अत्युत्कृष्ट वर्णनको श्रवण करके बादशाहने परम प्रसन्नता प्रकटकी और जगन्नाथरायसे इच्छानुकूल याचना करनेको कहा । तदनुसार पंडित फिर बोले—

न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित् ।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुंभा
लवंगी कुरंगी दृगंगीकरोतु[३] ॥

+ क्या सच्चे रसिकको अपने पुस्तकालयमें एकाग्र चित्त होकर ग्रंथवाचनका सुख राज्यवैभवके कृत्रिमसुखसे विशेष श्रेयस्कर नहीं है? अतः आधिगतपरमार्थपंडितको राजासे न्यून न समझना चाहिए ।

१ अर्थात् बादशाह-यह शब्द आंग्लभाषाके लैटर शब्दका स्थानापन्नहै,

२ मस्तक पै कुंभको स्थापन करनेवाली और कुसुंभ रंगके मनोहर दुकूलसे आभूषित यह सुंदरस्तनी मानौं सर्व संसारके चित्तको हरण करके अपने कलशमें ले जाती हुई शोभायमान है ।

३ न मैं गजराजयूथ मांगताहूं. न अश्वराजिकी इच्छा रखताहूं, संपत्तिमें मेरा तनिकभी मन नहीं; मस्तक पै घटस्थापन करनेवाली और मनोहर स्तनौंवाली, यह कुरंगनयनी लवंगी मुझे अंगीकार करै ।

यवनी नवनीतकोमलांगी
शयनीये यदि लभ्यते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये
न वनी माघवनी विलासहेतुः॥*

इस अद्भुत याचनाको सुनकर बादशाह चकित हुए, परंतु वचनतो देही चुके थे; लवंगी पंडितराजको समर्पणकी। वाचक हास्य करैंगे कि लवंगीका कलश लेकर जगन्नाथरायके सन्मुख प्रवेश करना नितांत असंभव है क्योंकि मुसल्मानोंमें परदा विषयक नियम सहज उल्लंघन नहीं हो सकते। न हो सकते होंगे; मेरा अभिप्राय इस आख्यायिकाकी सत्यताके निर्णय करनेका नहीं, किंतु जो बातैं बहुधा विद्वानोंके मुखसे सुननेमें आती हैं उनके लिखनेका है। फिर इस आख्यायिकामें कुछ अर्थ नहीं ऐसाभी नहीं। बिना किसी पदार्थकी अल्पाधिक स्थितिके तद्विषयक वार्त्ता नहीं प्रचलित होती। अस्तु। लवंगीकी प्राप्ति और तज्जनित पंडितराजका स्वधर्मसे हस्त प्रक्षालन काशीस्थ पंडितोंको सहन नहीं हुआ, अतएव जगन्नाथरायको उन्होंने ब्राह्मण पंक्तिसे बहिष्कृत किया। नैरास्यने पंडितेन्द्रको तब तो महान् उदासीनताको पहुँचाया और जैसा सुनते हैं गंगास्तवन द्वारा उनके पातकोंका निराकरण कराया। एतत् सम्बन्धीय आख्यायिका, मैंने गंगालहरीके स्वकृत भाषानुवादमें संक्षेप रीतिसे लिखी है इस कारण अब यहां पुनरुक्ति नहीं करता।

९ जगन्नाथराय के कालनिर्णयमें मतांतर है; कोई कहते हैं कि वह अकबर के समय में और कोई यह कहते हैं कि शाहजहां के समय में हुआ। महाराष्ट्र भाषाकी 'काव्येतिहाससंग्रह' नामक मासिक पुस्तक में रामदास, वामन, इत्यादि कवियों का काल

---

* नवनीतके समान कोमलांगी यवनी यदि शय्यामें प्राप्त होवै तो इस भूतलको मैं परम सुखकर मानूंगा, इन्द्रके नन्दनवनमें विलास करनेका सुख उसके सन्मुख तुच्छ है?

निर्णय किया गया है, जिससे यह विदित होता है कि, जगन्नाथराय शाहजहां के समय में थे । वामन पंडितने गंगालहरीका समश्लोकी भाषांतर किया है, इससे भी स्पष्ट है कि याती वह पंडितराजका समकालीन था या कुछ पीछे हुआ । रामदास, वामनादिक, शाहजहां के समय में हुए हैं तस्मात् जगन्नाथराय का अकबर की सभा में होना असंभव जान पडता है, । फिर ‘ आईन अकबरी’ में लवंगी अथवा पंडित जगन्नाथ का कुछ भी वृत्तांत नहीं है; यदि ये उस समय में होते तो इन्का भी कुछ न कुछ अवश्यमेव उस पुस्तक में वर्णन किया जाता, क्योंकि उसमें अल्पसे अल्प बातोंका स्पष्टीकरण किया गया है । मुम्बापुरस्थ श्रीयुत पंडित लक्ष्मणरामचन्द्र वैद्यने स्वप्रकाशित भामिनीविलासके उपोद्घात में पंडितराज के ‘ आसफविलास ’ नामकग्रंथसे कुछ पंक्तियां उद्धृत की हैं जिनमें प्रस्तुत कवि स्वयं कहता है कि ‘ पंडितराज ’ की पदवी उसे शाहजहां ने दी । इन प्रमाणों से यह स्थिर हुआ कि जगन्नाथ पंडित ख्रिस्तीय सम्वत् १६५० के लगभग देहली में वर्तमान था । वृद्धावस्था में इसने बहुत काल पर्य्यंत मथुरा वास किया ।

१० जगन्नाथराय के ग्रंथों के अवलोकन से यह तत्काल भासित होता है कि वह परम विद्वान् था । ऐसा सुनते हैं कि राज्यसभा में उसने बहुतेरे पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया । काव्य में उसे कितना गर्व था यह भामिनीविलासके अंतिमश्लोकोंसे विदित होता है संस्कृत कवियों में यदि इसकी गणना कालिदास, भारवि, भवभूति आदिकी मालिका में करें तो मेरी अल्पबुद्ध्यनुसार अतिशयोक्ति न होगी—इस कविने यवनों के आघातसे शेषरही साहित्य तथा काव्यविद्याको अपने अप्रातिमग्रंथासे विशेष विभूषित किया । इसको संस्कृत भाषाके वर्णनीय कवियोंकी श्रेणी में अंतिम समु-

झना चाहिये। खेद का विषय है कि ऐसा 'पंडितराज राजितिलक' 'यवनीनवनीतकोमलांगी' में लीन हो जाय।

काव्यमाला नामक मुंबईकी मासिक पुस्तकमें इस कविके रचे हुए इतने ग्रंथोंके नाम लिखे हैं:—

१ रस गंगाधर
२ यमुना वर्णन चम्पू
३ रतिमन्मथ नाटक
४ वसुमती परिणय नाटक
५ जगदाभरण काव्य
६ प्राणाभरण काव्य
७ पीयूषलहरी
८ अमृत लहरी
९ सुधालहरी
१० करुणा लहरी
११ लक्ष्मी लहरी
१२ भामिनी विलास
१३ मनोरमा कुच मर्दन
१४ अश्वधारी काव्य

पंडित लक्ष्मण रामचन्द्र वैद्यने जिसका उल्लेख किया है उस "आसफ विलास" का नाम उपरोक्त पुस्तकमालिकामे नहीं आया। अनुमान होता है कि काव्यमालाकारको वह उपलब्ध नहीं हुआ।

जगदाभरणमें शाहजहांके पुत्र दाराशिकोहका वर्णन है और प्राणाभरणमे कामरूपदेशके राजा प्राण नारायणकी यशःप्रशंसा है जिसे जगन्नाथरायने कामरूपदेशकी काव्यको श्रवण करके प्रसन्न होकर निर्माण किया था। पीयूष, अमृत, सुधा, करुणा और लक्ष्मीलहरीमें क्रमसे गंगा, यमुना, सूर्य, विष्णु, और लक्ष्मीका स्तवन है। अश्वधारीमें रामनामक अपने पौत्रको सदुपदेश किया है। यमुनावर्णन चंपू, रतिमन्मथ नाटक, वसुमतीपरिणय नाटक और मनोरमाकुचमर्दन मेरे अवलोकनमें नहीं आये।

प्रस्तुत कविके ग्रंथोंमें 'रसगंगाधर' नामक साहित्यका ग्रंथ प्रशंसनीय है। यह हस्तलिखितही देखनेमें आता था परंतु अब मुद्रित हो गया है। इस ग्रंथको पंडितराजने बड़ी चातुर्यता और युक्तिसे गद्यपद्यमय निर्माण किया है। इसमें समस्त विषयोंकी

उत्तम प्रकारसे व्याख्या करके अलंकारादिकके नूतन उदाहरण अत्यंत रसाल वाणीमें दिये हैं । जगन्नाथरायके कालतक साहित्य ग्रंथकारोंकी यह पर्याय थी कि वह लक्षण अपनी ओरसे लिखते और उदाहरण किसी पुरातन ग्रंथका लेतेथे; परंतु पंडितराजने वैसा करना उचित नहीं समझा । एतद्विषयक ' रसगंगाधर ' के प्रारंभमें यह श्लोक है:-

निर्माय नूतनमुदाहरणानिरूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किंचित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्ति भृता मृगेण*॥

यह कितनी दर्पोक्ति है ! ' रसगंगाधर ' में जगन्नाथरायकृत गंगालहरीके भी श्लोक कई स्थलोंमें उदाहरणार्थ आये हैं जिनके देखनेसे एक प्रकारका व्यामोह उत्पन्न होता है कि यदि भागीरथीने, जैसा सुननेमें आता है, उन्हें स्तवनानंतर परमधामको पहुंचाया तो यह श्लोक ' रसगंगाधर ' में कैसे प्रविष्ट हुए । इस विषयमें विवाद करना ठीक नहीं क्योंकि ज्यों ज्यों अधिक खोज करते हैं त्यों त्यों अधिक शंका उत्पन्न होती जाती है । अस्तु । ' कुवलयानंद ' कार अपय्या दीक्षित जगन्नाथरायके प्रतिपक्षीथे । उनको पंडितराजने इस ग्रंथमें ' कुवाच्य कहे हैं और अनेक स्थल पै ' कुवलयानंद 'का खंडन किया है । प्रसिद्ध ' सिद्धांतकौमदी ' के प्रणेता भट्टोजी दीक्षित पैभी पंडितेन्द्रका बडा कटाक्ष था । 'मनोरमा ' नामक कौमुदीकारकी टीकाको ' मनोरमा कुचमर्दन ' ग्रंथ लिखके पंडितराजने छिन्न भिन्न किया है ।

* इस काव्यमें मैंने नवीन उदाहरणोंकी रचनाकी है; अन्यकृत किंचिन्मात्रभी नहीं ग्रहण किया; कस्तूरिका उत्पन्न करनेकी शक्ति जिनमें होती है वे मृग क्या कभी पुष्प सुगंधकीभी इच्छा करते हैं ?

पंडितराजकृत ग्रंथोंमें ' भामिनीविलास ' के विषय विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उसमें क्या वस्तु है और वह कहां तक आदरणीय है इसका विवेचन वाचक स्वयं करलेवैंगे । यह प्रास्ताविक शृंगार, करुणा और शांत नामक चार विलासोंमें विभक्त है । प्रत्येक पद्य अपना अर्थ अलग अलग देता है; एकसे दूसरा कुछभी संबंध नहीं रखता । यही कारण है कि इस ग्रंथकी प्रतियां मिलती नहीं; किसीमें कुछ न्यून है किसीमें कुछ अधिक । एकने एक श्लोक मिला दिया दूसरेने दूसरा निकाल लिया । यह ग्रंथ प्रसंगानुसार कये गद्दे पद्योंका संग्रह है । कोई कोई कहते हैं कि पंडितराजने अपनी स्त्रीके नामानुसार इसका नामकरण किया; कोई यह अनुमान करते हैं कि ' निर्माय नूतनमुदाहरणानिरूपं, इस नियमके प्रतिपालनार्थ ' रसगंगगाधर' में उपयुक्त होनेके हेतु इसकी प्रथमहींसे रचना की गईथी । वस्तुतः यह प्रातिष्ठित ग्रंथ जगन्नाथरायके अनुपम काव्यचमत्कारका अत्युत्कृष्ट नमूना है ।

१२ मेरे जान भामिनीविलासका अभीतक कोई देवनागरी भाषांतर प्रकाश नहीं हुआ । होवै कैसे, हमारे माननीय वाचकों की संस्कृतकाव्य में अत्यंत रुचि है न बड़े बड़े उपाधिधारी आंग्लभाषाभास्कर एतद्देशीय विद्वानों को तो ' शेक्सपियर ' ' रेनाल्ड ', ' मेकाले ' से ही अवकाश नहीं मिलता; फिर विचारे 'जगन्नाथपंडित' को कौन पूछै ? बताइए ग्रंथ लिखने तथा प्रकाश करने का उत्तेजन कैसे होवे ? हां, जो पुस्तकें शिक्षा विभाग के डाइरेकृर महोदयने पाठशालाओंमें प्रचलित कर दीं उनकी मात्र अहोभाग्य समझना चाहिये; नहीं तो किसी ने चाहै कितनेहीं परिश्रम से कैसाही उत्तम ग्रंथ रचा और मुद्रणमेंचाहे कितनाहिं द्रव्य व्यय किया हो, बहुधा उसकी प्रतियां या तो यंत्रालय में पडे पडे कृमि भक्ष्य हो जावैंगी या वणिक्विक्रयालय में उपयोगी होंगी ॥ जब ऐसी दशा देखकर भी जानबूझ ग्रंथलेखन तथा प्रकाशन क्रिया

में हम अपनी योजना करते हैं तो समाधानके हेतु इस श्लोकका स्मरण वारंवार हो आता है ॥–

कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
न स विरौति न चापि हि शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता* ॥

ग्रंथ लिखना, भाषांतर करना, फिर उनके प्रकाश करनेके प्रयत्नमें लगना बहुतेरोंका स्वाभाविक व्यापार होता है; चाहे हानि हो चाहे लाभ । कभी कभी समाचारपत्रकर्त्ताभी पुस्तकोंका योग्यायोग्य विचार न करके मनमानी समालोचना झोंक देते हैं जिससे ग्रंथकर्त्ताका अंतःकरण कलुषित हो जाता है और ग्रंथके प्रचारमें भी बाधा आती है ।

१३ भामिनीविलासका पद्यात्मक भाषांतर करके प्रतिश्लोकका भावार्थ पद्यमें लिखनेका मेरा विचार था, परंतु जैसी स्वास्थ्य चाहिए वैसी न होनेसे केवल गद्यमें करना पड़ा । श्लोकोंकी योजना कई हस्तलिखित तथा मुद्रित पुस्तकोंको एकत्र करके ठीक की गई है । भाषांतरमें अर्थ व्यंजकताके निमित्त ऊपरसे लायेगये शब्द ( ) इस चिह्नके बीचमें रक्खे गये हैं । ऐसा करनेकी कुछ बड़ी आवश्यकता नथी क्योंकि श्लोकका भाव भाषामें दरशा देना हीं बस है परंतु कोई कोई यह आक्षेप करने लगते हैं कि मूलका अर्थ न करके मनमाना भाव लिखदिया है इस कारण, मैंने मूलको न छोड भली भांति अर्थ स्पष्ट करनेके हेतु उपरोक्त चिह्नमें आवश्यकशब्द लिख दिये हैं । जो शब्द अथवा वाक्य किसीक

---

* कांचनके आभूषणमें संग्रहण करनेके योग्य रत्नको यदि कांचमें स्थान दिया, तो वह रत्न रुदन करताहै ऐसा नहीं, और वहां शोभा पाताहै ऐसाभी नहीं, किंतु वैसी योजना करनेवालेके चातुर्यकी मात्र चर्चा होतीहै।

' अर्थ ' है वह ( ) इस प्रकारके कोष्टकमें रक्खा गया है । जहां जहां नूतन छंद आये हैं वहां उनके नामभी लिखे हैं; लक्षण विशेष उपयोगी न होनेके कारण नहीं लिखा गया । भामिनीविलासांतर्गत ' औपच्छंदसिक ' वृत्तको मैंने ' माल्यभारा ' नामसे लिखा है । यह नाम ग्रंथांतरमें पाया भी जाता है और सरलभी है; इसीसे उसका प्रयोग किया है । विशेषस्थलोंमें अलंकारादिक भी लिख दिये गए हैं; उनका लालन साहित्यज्ञ करैहीं गे ।

१४ प्रस्तुत पुस्तककी भूमिका लिखनेमें जो जो मुझे आवश्यक समुझ पडा और जो जो जगन्नाथरायके विषयमें वार्त्ता मिली सो सो मैंने समावेशित की । ऐसा करनेमें अन्य विषयोंका भी संक्षिप्त विवेचन होता गया है क्योंकि, अंगांगीभावसे उनका भी कुछ न कुछ इस लेखसे संबंध है । यह उपक्रम, पुस्तकके परिमाणसे विशेष दीर्घावयवयी हुआ; तस्मात् अब वाचकोंसे क्षमा माँग मैं यहीं इसकी समाप्ति करता हूं ।

झासी
१८ सप्टेंबर १८९१ } महावीर प्रसाद द्विवेदी ।

भाद्रपद शुक्ल १५ भृगौ १९४८

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—
खेमराज श्रीकृष्णदास.
"श्रीवेंकटेश्वर" छापाखाना बम्बई.

श्रीः ।

अथ भामिनीविलासः ।

भाषा टीका सहितः ।

प्रथमः प्रास्ताविक विलासः ।



माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसंभूता ॥
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायां मम सुधा कविता ॥ १ ॥

माधुर्य की सीमा को प्राप्त होनेवाली, विद्यारूपी सागर के मंथन से उत्पत्ति पानेवाली, पान करने में अत्यानंद की देने वाली, (यह) मेरी कविता संसार में अमृत (केसमान) है ।

दिगंते[2] श्रूयंते मदमलिनगंडाः करटिनः ।
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ॥
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं ।
नखानां पांडित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ॥ २ ॥

मदोदक से जिनके गंडस्थल मलिन हो गए है ऐसे मदोन्मत्त हस्ती दिगंत में हैं (इस प्रकार के शब्द लोगोंके मुख

---

१ यह आर्या छंद है । इसमें कही हुई पंडितराज जगन्नाथजी की गर्वोक्ति अक्षरशः सत्य है यह कोई भी गुणज्ञ, जिसने इनके कियेहुये ग्रंथों का अवलोकन किया है, मानैगा । २ यह शिखरिणी छंदहै ।

से) सुनाई पडते हैं; (और आसमंताद्भाग में केवल) करुणा पात्र हस्तिनी तथा क्षुद्र पशु मात्र (दृष्टिगोचर होते) हैं; तो ऐसे समय में मृगराज जो सिंह वह अपने अत्यंत तीव्र नखों की पांडित्य कहां प्रकट करै? (किसी राजाको बहुत काल तक युद्ध अथवा किसी पंडित को शास्त्रार्थ न करते देख यदि कोई शंका करे तो उसका निवारण इस अन्योक्ति से करना चाहिए कि शत्रु अथवा वादानुवाद करनेवाला तो कोई रहाही नहीं पराक्रम अथवा पांडित्य कहां प्रकट की जाय? हस्तियोंका दिगंतर में वास वर्णन करके कालिदासादि कविप्रभृति तथा विक्रमादित्यादि राज प्रभृति के यशमात्र का स्थिर रह जाना सूचित किया) ॥

पुरा[1] सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ॥
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले।
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥ ३ ॥

प्रफुल्लित कमल पंक्तियों के गिरेहुए परागसे सुगंधित मानसरोवर के जल में जिसकी तरुण अवस्था गई अर्थात् व्यतीत हुई ऐसा वही हंस श्रेष्ठ वृद्धावस्था में अनेक मंडूक परिपूर्ण एक तुच्छ जलाशय में किस कारण आया ? (एक उ-

१ पृथ्वी छंद है।

मन्न पुरुषको नष्ट कार्य करते देख उसकी निंदा करने को यह अच्छी अन्योक्ति है)।

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरीगणे ।
मौनं मुंचति किंच कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति ॥
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थानकामेऽधुना ।
धातः किंनु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः१४॥

चंद्रदर्शन की लालसा से चंचल नेत्र वाली चकोरी जिस समय पूर्व दिशा की ओर देखरही हैं, चंद्रविकासी कमल खिल रहे हैं, भगवान् पंचशर अपने धनुष की प्रत्यंचा को चढा रहे हैं और मानवती स्त्रियों के मान छुट रहे हैं उस समय ऐसे कार्य होते देख हे विधे चंद्रमापर मेघाच्छादन करना क्या तुझे उचितहै ? (कार्य सुफल होते समय यदि कोई विघ्न करै तो उसकी दुष्टता इस अन्योक्ति से सूचित करना चाहिये) ॥

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं ।
तव किमपि लिहंतो मंजु गुंजंतु भृंगाः ॥
दिशिदिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन् ।
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः २॥ ५ ॥

हे प्रफुल्लित कमल ! तेरे गिरे हुए पराग को ग्रहण करके

---

१ शार्दूल विक्रीडित छंद है। २ मालिनी छंद है।

तेरे निकट ही भ्रमर मंजु गुंजार करते रहैं परन्तु यह तेरा दूसरा बंधु पवन अनपेक्षित होकर भी तेरी सौरभ को सर्व ओर ले जाता है (अर्थात् भ्रमर अपेक्षित होकर केवल अपना ही अर्थ सिद्ध करके तेरे निकटही तेरी प्रशंसा करते हैं दूर नहीं जाते;) परन्तु पवन को तेरी सौरभ ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं तथापि वह उस को लेकर स्वयं सुगंधित हो दूसरों कोभी उससे लाभ पहुचाता है और अनेक दिशाओं में भ्रमण करता हुआ तेरे गुण को प्रकट करता है।) कोई ऐसे होते हैं कि अपने अर्थ लाभ उठाकर जिससे लाभ हुआ उसका वहीं कुछ वर्णन करते हैं सो उचित ही है क्योंकि अपने हित का पलटा देना योग्य है परंतु कोई सत्पुरुष निरपेक्षित होकर भी केवल दूसरों के गुण प्रकाश करने को उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं और ऐसा करके स्वयं प्रशंसा पात्र हो दुसरों को भी पावन करतें हैं) ।

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज मधुकरे माऽगाः ॥
मकरंदतुंदिलानामरविंदानामयं महामान्यः ॥ ६ ॥

हे कुटज, [अल्प मकरंद के धारण करने वाले वृक्ष] इस मधुकर की, जो दैवयोग से तेरे निकट आगया है, हेलना न कर यह रससे समूह संचु चुहाते कमलों को भी महा मान्यहै (इस प्रकार अप्रस्तुत कुटज वृत्तांत वर्णन करके इस अन्योक्ति से

---

१ आर्या छंद है ।

जो मनुष्य किसी राजमान्य पंडित अथवा अपर सत्पुरुषका अनादर करना चाहता है उसकी मूर्खता प्रगट करनी चाहिये॥)

तावत्कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन् ॥ यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥ ७ ॥

हे कोकिल वनांतर में वास करके विरस दिनों को (जिन दिनों में फूल नहीं होते अर्थात् हेमंत और शिशिर ऋतु) तब तक काट जबतक कोई आम्रवृक्ष भ्रमर युक्त होकर न खिलै (गुणग्राहक न होने से गुणी जनों का समाधान इस अन्योक्ति से करना चाहिये ॥)

कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः ।
किमिति बकैरवहेलिताऽनभिज्ञैः ॥
परिणतमकरंदमार्मिकास्ते ।
जगति भवंतु चिरायुषो मिलिंदाः ॥ ८ ॥

हे कमलिनि ! यदि तेरे उत्तम मकरंद के मर्म जाननेवाले भ्रमर, संसार में जीवित हैं तो बकों की हेलना से तू अपने चित्त को क्यों खेदित करती है ? (किसी पंडित की अवज्ञा यदि मूर्ख ने की तो उसका समाधान इस अन्योक्ति द्वारा भली भांति हो सकता है)

नितरां नीचोऽस्मीति त्वं खेदं कूप मा कदापि कृथाः।

अत्यंतसरसहृदयो यतः परेषां गुणंगृहीतासि ॥ ९ ॥

हे कूप "मैं नीचा अर्थात् अधोभागस्थित हूं" ऐसा समुझ चित्त में खेद न कर क्योंकि तू अत्यंत सरस हृदय और दूसरों के गुण का ग्रहण करनेवाला है (यदि कोई नीच कुल में जन्म पाकर गुणग्राहक और सरस हृदय है तो उसको अपने नीचत्व पै खेद न करना चाहिए, गुणग्राहता और दया यह मनुष्य के प्रधान गुणा हैं)

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत ॥
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कथम् ॥१०॥

जिस मधुकर ने मधुसमूहसंयुक्त प्रफुल्लित कमल में अपने दिन व्यतीत किये उसने कुटज वृक्ष पर जाने की हाय! कैसे आकांक्षा की (महादानी जनौं अथवा राजाओं के निकट बहुतकाल तक रहकर यदि कोई पंडित अथवा कवि किसी साधारण मनुष्य की याचना करने को गया तो उसके मूलकी इस अन्योक्ति से सूचना करनी चाहिये)

अयि मलयज महिमाऽयं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते।
उद्गिरतो यद्गरलं फणिनः पुष्णासि परिमलोद्गारैः ११॥

हे मलयज! [चंदन] तेरी महिमा कौन वर्णन कर सकता है जो सर्प तेरे ऊपर गरल वमन करते हैं

---

१ गुण (रस्सी) यहां द्व्यर्थिक है ।

[डालते हैं] उन्ही को तू (दंड न देकर उलटा) अपनी सुगंध से पोषित करता है (साधुजनों के साथ अपकार भी करने से वे उपकारही मानते हैं)

पाटीर तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम् ॥
यत्पिषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥ १२ ॥

हे पाटीर [चंदन] तेरी परिपाटी [पद्धति] को ग्रहण करने में कौन समर्थ है ? जो तुझे पीसते हैं उन्हेंभी अपने चूर्ण की सौरभ से तू पुष्ट करता है!(सज्जनों को यदि कोई दुःखभी देवै तो वे दुःख देनेवाले को उसके अपकृत्य पर ध्यान न देकर पलटे में सुखही देते हैं)

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥१३॥

हे हंस यदि नीर से क्षीर को विलग करने में तूही आलस्य करैगा तो फिर इस संसार में और दूसरा कौन अपनी कुलकानि [कुलकी परिपाटी] का पालन करेगा (यदि राजा महाराजा अथवा सज्जन पुरुष ही उत्तम कार्य करने में अथवा अपनी मर्यादा के पालन में आलस करैंगे तो फिर साधारण मनुष्य रीति तथा नीति विरुद्ध करने में क्यों सुकचैंगे)

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजंगमपुंगवाः ॥
अन्तः साक्षाद्द्राक्षादीक्षागुरवो जयंति केऽपि जनाः १४

कोई कोई सत्पुरुष ऊपर से तो सर्प समान क्रूर और खड्ग की धारा के समान तीक्ष्ण दिखाई देते हैं परंतु अंतःकरणमें परमोत्तम द्राक्षा के तुल्य मीठा उपदेश देने में समर्थ होतेहैं (साधारण सज्जन प्रशंसा है)

स्वच्छन्दं दलदरविन्द ते मरन्दं ।
विन्दन्तो विदधतु गुंजितं मिलिंदाः ॥
आमोदानथ हरिदंतराणि नेतुं ।
नैवान्यो जगति समीरणात् प्रवीणः ॥ १५ ॥

हे प्रफुल्लित कमल? तेरे स्वच्छंद मकरंद को ग्रहण करके भ्रमर गुंजार करते रहैं परंतु पवन के अतिरिक्त तेरी सौरभ को सर्व दिशाओं में ले जाने को दूसरा और कोई समर्थ नहीं। (राजाओं के यहां अनेक पंडित और गुणी जनों का पालन तो होता ही है परंतु विना कवियोंके राजा के गुण तथा पराक्रम का वर्णन दूर देशों में नहीं हो सकता)

यांते मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कंप्रति पांथसंततिरसौ संतापमालाकुला ।
एवं यस्य निरंतराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते ।

---

१ 'प्रहर्षिणी' छंद है। २ 'शार्दूलविक्रीडित'।

धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग्वारिधीनां जनुः १६

ग्रीष्मकाल के सूर्य की परमप्रचंड ज्वाला से मेरे शीघ्रही शुष्क हो जाने पर ये पिपासाकुल पथिक किसके निकट जावैंगे ? ऐसा कहने वाला मार्ग का तडाग, जिसका शरीर निरंतर आपत्तियों से क्षीण होता है, धन्य है, परंतु अखंड जल परिपूर्ण सागर को धिक्कार है (क्योंकि वह उपकार करनेमें समर्थ नहीं) (तात्पर्य—धनाढ्य होकर भी दान न दिया तो धिक्कार है और अल्प वैभव में जिसने परोपकार किया तो फिर क्या कहना, उसी का जीवन सुफल है।)

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतंगा।
भृंगा रसालमुकुलानि समाश्रयंते॥
संकोचमंचितसरस्त्वयि दीनदीने।
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥ १७॥

हे सरोवर! तेरे शुष्क हो जाने पर (तेरे जलवासी) पक्षी तो आकाश को उडजावैंगे, और (तेरे जलोत्पन्न कमलों पै गुंजार करनेवाले) भृंग आम्र कलिकाओं का आश्रय लेवैंगे, परन्तु इस महादीन मीनकी हाय! क्या गति होवैगी! (दाता को निर्धनता प्राप्त होने से वे याचक जिनको दूसरे ठौर आश्रय मिलसकता है अन्यस्थलमें जाकर निर्वाह करैंगे

---

१ वसंततिलका छंद।

परंतु जो निराश्रित हैं उनकी क्या दशा होगी? उनको तो और कंही विश्राम लेने का ठौरही नही?)

मधुप इव मारुतेऽस्मिन् मा सौरभलोभमम्बुजनि मंस्थाः ॥ लोकानामेव मुदे महितोऽप्यात्माऽमुनाऽर्थितां नीतः ॥ १८ ॥

हे कमल! जिसप्रकार तू अपनी सौरभ का लोभ भ्रमरों से करता है (अर्थात् भ्रमरों के त्रास से रात्रिमें मुकुलित होकर उन्हें अपनी सौरभ अथवा पराग नही लेने देता) वैसा पवन से न कर; इसने लोकोपकारार्थ अपनी श्रेष्ठ आत्मा तक भी याचकों को दे दिया है (अर्थात् जीवमात्र को सुगंधित करताहै) तात्पर्य—अपर याचकों को दान देने से दाता चाहै अपना मुख मोरै परंतु कवि जनों के साथ वैसा व्यवहार उचित नही क्योंकि वे दातृत्व का वर्णन देश देशांतरों में करते हैं।

गुंजति मंजु मिलिंदे मा मालति मानमौनमुपयासीः। शिरसा वदान्यगुरवः सादरमेनं वहन्ति सुरतरवः १९॥

हे मालति! भ्रमरों के मंजु गुंजार करने पर तू मान तथा मौन धारण न कर (अर्थात् उनको अपना रस लेनेदे) क्योंकि ये महादानी कल्पवृक्ष को भी शिरसा वंद्य हैं (अल्प धनवानों के पास यदि दैवयोग से कोई गुणीजन आजावै

तो उनको दान देने मे सकुच न करनी चाहिये क्योंकि बडे बडे राजा महाराजा भी उनका सत्कार करते हैं)

यैस्त्वं गुणगणवानपि सतां द्विजिह्वैरसेव्यतां नीतः ॥
तानपि वहसि पटीरज किं कथयामस्त्वदीयमौन्नत्यम् ॥ २० ॥

हे चंदनवृक्ष ! जिन सर्पो नें तुझ गुणवान् को सज्जनों की सेवा के योग्य न रक्खा (अर्थात् तुझे सर्प सहित देख सत्पुरुषोंको तेरे निकट आने में भय उत्पन्न किया) उन्हीं को तू धारण कियेहुए है इससे तेरी योग्यता का वर्णन कैसे कर सकताहूं? (दुष्टों को भी एक वार ग्रहण करके त्याग नहीं करता इससे प्रशंसनीयहै अथवा व्याज स्तुति भी सूचित होती है कि तू अविवेकी है क्योंकि सदैव अपने निकट सर्पोंको स्थान देता है जिससे साधुजन भय के मारे तेरे पार्श्ववर्ती नहीं होते किसी मनुष्य की कुसंगति वरणन करने में दोनों प्रकारके अर्थों का प्रयोग हो सकता है)

गाहितमखिलं गहनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।
सहकार न प्रपेदे मधुपेन भवत्समं जगति ॥ २१ ॥

हे आम्रवृक्ष! मधुप ने सारा वन ढूंढा और आस पास के सर्व वृक्ष देखे परंतु तेरे समान उसे दूसरा न मिला (किसीकी भी प्रशंसा करने में इस अन्योक्ति का उपयोग हो सकताहै)

अपनीतपरिमलांतरकथे पदं न्यस्य देवतरुकुसुमे ॥
पुष्पान्तरेऽपिगन्तुं वा वाञ्छसि चेद्भ्रमर धन्योऽसि२२

हे भ्रमर ! अद्वितीय सुगंधमय मंदार पुष्पमें निवास करके अपर पुष्प में तुझ जाने वाले को धन्य है (सत्संग का त्याग करके कुसंग करने वालो की इस अन्योक्ति से कवि ने व्याज स्तुति की है)

तटिनि चिराय विचारय विन्ध्यभुवस्तव पवित्रायाः॥
शुष्यंत्या अपि युक्तं किं खलु रथ्योदकादानम् २३॥

हे सरिते ! तू स्वयं विचार कर की विंध्याचल के (जिस भाग से होकर तू निकली है उसभाग की) तेरी पवित्र भूमि तेरे शुष्क हो जाने पर भी क्या मार्गस्थ अल्प तडागों से जल लेने की इच्छा करैगी (अर्थात् न करैगी सत्संगती का वियोग हो जाने से भी सज्जन दुष्ट संगति कदापि अंगीकार नहीं करते)

पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या कदाप्यदृष्टं वृतं च खलु शूकैः॥
उपसर्पेम भवंतं बर्बर वद कस्य लोभेन ॥ २४ ॥

हे बर्बरवृक्ष ! पत्र, फल और फूल से सुशोभित तो तुझे कभी देखाही नही वरन तू उलटा कांटों से युक्त है फिर भला तू ही कह कि हम किस लोभ से तेरे निकट प्राप्त होवैं (यदि कोई दुष्टजन कहे कि हमारे पास सज्जन क्यों नही

आते तो उसका उत्तर इस अन्योक्ति में है दुष्टों से उपकार तो होनेही का नही उलटे उनसे कुवाच्य सुनने पडते हैं)

एकस्त्वं गहनेऽस्मिन् कोकिल न कलं कदाचिदपि कुर्याः । साजात्यशंकयाऽमी न त्वां निघ्नंतु निर्दयाः काकाः ॥ २५ ॥

हे कोकिल ? तू अकेला इस वन में कदापि शब्द न कर जिससे तुझे अपना सजातीय समझे ये निर्दई काक तुझे न मारैं अर्थात् जो तू बोलेगी तो काक यह समझैंगे कि हमारे सजातियों ने यह बोली कंहा सीखी,इससे वे तेरी अवश्य ताडना करैंगे; अथवा, तू उनसे अपने बालकों का प्रतिपालन कराती है इससे वे मनमें मत्सर मान तेरा अनहित चाहैंगे (दुर्जनों की सभामें सज्जन को मौन[1]ही धारण करना उचितहै)

तरुकुलसुखमापहरां जनयंतीं जगति जीवजातार्तिम् । केन गुणेन भवानीतात हिमानीमिमां वहसि ॥२६॥

हे हिमालय ? वृक्षों की शोभा को नाशकरनेवाले और संसारिक प्राणियों को क्लेश देनेवाले इस हिम समूह को तू क्यों धारण करता है ? (सत्पुरुषने यदि कोई कुत्सित कार्य किया तो उसको इस अन्योक्ति से शिक्षा करनी चाहिये इससे प्रशं-

१ 'विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपंडितानाम्' ।

सा और निंदा दोनों प्रकट होती हैं । दोष जान त्याग नहीं करता यह सुझाना तो निंदा हुई और दोषयुक्त शरण आये हुए मनुष्य को अंगीकार करके प्रतिपालन करता है यह कहना प्रशंसा हुई)

कलभ तवांतिकमागतमलिमेनं मा कदाप्यवज्ञासीः।
अपि दानसुंदराणां द्विपधुर्याणामयं शिरोधार्यः॥२७॥

हे गजशावक! तेरे निकट आए हुए इस भ्रमर की कदापि अवज्ञा न कर, इसे श्रेष्ठ मत्त गज भी अपने शिर पर धारण करते हैं (अल्प दानी के पास यदि दैव वशात् कोई गुणी गया तो उसकी इच्छा सुफल करनी चाहिए क्योंकि उसका मान महान दानशूर भी करते हैं)

अमरतरुकुसुमसौरभसेवनसंपूर्णसकलकामस्य ।
पुष्पांतरसेवेयं भ्रमरस्य विडम्बना महती ॥२८॥

कल्पद्रुम के पुष्प की सौरभ के सेवन से जिस भ्रमरके सर्व कार्य फलीभूत हुए हैं उसकी, दूसरे पुष्पो की सेवा कर ने सें महा विड़म्बना है (चक्रवर्ती राजाओं अथवा सत्पुरु-षों का द्वार त्याग यदि कोई गुणी अपर द्वारका अवलंबन करै अथवा किसी नीच पुरुष से मित्रता संपादन करै तो उसकी विड़म्बना अवश्यही होगी)

पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे॥

माकंद न प्रपेदे मधुपेन तवोपमा जगति ॥ २९ ॥

हे आम्रवृक्ष ! मधुप ने कोकिल से पूंछा और आसमंताद्भाग के सर्व वृक्षो कों भी देखा परन्तु तेरी उपमा देवे योग्य उसे एक भी न मिला (उस दाता, राजा अथवा गुणीं की प्रशंसा है जिसकी समता दूसरा नहीं कर सकता)

तोयैरल्पैरपि करुणया भीमभानौ निदाघे ।
मालाकार व्यरचि भवता या तरोरस्य पुष्टिः ॥
सा किं शक्या जनयितुमिह प्रावृषेण्येन वारां ।
धारासारानपि विकिरता विश्वतो वारिदेन[1] ॥ ३० ॥

हे मालाकार! [मालि] ग्रीष्म ऋतु में प्रचंड सूर्यसे संतप्त कियेगये इस वृक्ष को अल्पोदक सिंचन से जैसा तूने पुष्ट किया है वैसी पुष्टि वर्षा काल में सर्व ओर वारिधारा वरसाने वाले मेघसे क्या हो सकैगी ! अर्थात् न हो सकैगी (आपत्ति में किंचित् मात्र साहायता करने से जो सुख होता है सो सुदिन में अतुल संपत्ति दान से भी होना संभव नहीं)

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा ।
वात्याभिः परुषीकृता दश दिशश्चंडातपो दुःसहः ॥
एवं धन्वनि चंपकस्य सकले संहारहेतावपि ।
त्वांसिंचन्नमृतेन तोयद कुतोऽप्याविष्कृतोवेधसा ३१॥

---

१ 'मंदाक्रांता छंद ।

मालाकार [मालि] विवेक शून्य हो गया है, रस नीरस हो गये हैं, दशो दिशा प्रचंड पवनसे अगम्य होगई हैं सूर्यातप असह्य हो गई है, इस प्रकार मरुदेशोत्पन्न चंपक वृक्ष के संहार करने की जिस समय में सर्व सामग्री हुई उस समय में हे मेघ? उसे जल से सिंचन करके प्राणरक्षा करने के लिये तुझे ब्रह्माने कहां से उत्पन्न किया! (कार्यविगडते विगडते यदि कोई अनायास सहायता देकर उसे ठीक करदेवै तो उस पुरुषको इस अन्योक्ति से धन्यवाद दें सकैंगे)

न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रांतनयना।
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदंबाः करटिनः॥
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो।
हरेरद्य द्वारेशिवशिवशिवानां कलकलः॥ ३२॥

जिस द्वार पर, मदोदक पान की इच्छा से आए हुए भ्रमर समूह को धारण करने वाले और भयसे चकित नेत्रों वाले करिवर एक क्षणभी न ठहरतेथे और जहां गजमुक्ता विखरे रहते थे ऐसे उसी द्वार पै शिव, शिव, आज सिंह के परलोकवासी होने से शृगाली शब्द करती हैं! (वीरौं दाताओं तथा सत्पुरुषों के पश्चात् कभी कभी एसीही विपरीत दशा होती है)

दधानः प्रेमाणं तरुषु समभावेन विपुलं।

१ ‘ शिखरिणी।

न मालाकारोऽसावकृत करुणां बालबकुले॥
अयंतु द्रागुद्यत् कुसुमनिकराणां परिमलै।
र्दिगन्तानातेनेमधुप कुलझंकारभरितान्॥ ३३॥

वाटिका के सब वृक्षो पर समभाव से प्रीति रख जिस बालबकुल के ऊपर मालाकार [माली] ने करुणा न की अर्थात न सींचा उसी (बालबकुल) ने मधुप समूह जिनपै गुंजार कर रहा है ऐसे अपने पुष्पों की सुगंध से दिशाओं को शीघ्रही परिपूर्ण किया (गुरु ने यदि किसी अल्प वयस्क शिष्यपर विशेष ध्यान न भी दिया तोभी यदि वह चतुर और बुद्धिमान है तो शीघ्रही विद्याओं में प्रवीण होकर अपने तथा गुरु के गुणों का प्रकाश सब ओर करता है)

मूलं स्थूलमतीव बन्धनदृढं शाखाः शतं मांसलाः।
वासो दुर्गमहीधरे तरुपते कुत्रास्ति भीतिस्तव॥
एकः किंतु मनागयं जनयति स्वान्ते ममाधिज्वरं।
ज्वालालीवलयीभवन्नकरुणो दावानलो घस्मरः ३४॥

हे तरुपते! मूल तो तुह्मारी परम स्थूल है, आलबाल [थाला (दृढ बंधाहै, शाखाये पुष्ट हैं, निवास तुह्मारा दुर्गं पर्वत परहै, तस्मात् तुह्मे किस का भय है! परंतु एक यह ज्वाल जाल से चक्राकारहुवा दयारहित, सर्व भक्षक, अग्नि मेरे अंतः करणको कुछ संतप्त करता है (किसी धर्मात्मा

पुरुष को देख, दुष्टों के द्वारा उसके अपकार होने की शंका मन में रख कोई सत्पुरुष तरुपत्यन्योक्ति से अपना विषाद दुष्टजनों की दुष्टता और धार्मिक मनुष्यों की अवस्था वर्णन करता है)

ग्रीष्मे भीष्मतरैः करैर्दिनकृता दग्धोऽपि यश्चातक-
स्त्वां ध्यायन्घन वासरान् कथमपि द्राघीयसो नीतवान्।
दैवाल्लोचनगोचरेण भवता तस्मिन्निदानीं यदि ।
स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा तत् कं प्रति ब्रूमहे ३५॥

हे मेघ! जिस चातक ने ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रचंड किरणों से दग्ध हो तेरा ध्यान धर जैसे तैसे बड़े बड़े दिन काटे, दैवयोग से उसके सन्मुख प्राप्त होकर यदि तूहीं उपल प्रहार करने लगा तो फिर किससे क्या कहै! (जब पालन कर्ता ही प्राणहर्ता हुवा तब महा ही अन्याय समझना चाहिए)

दवदहनजटालज्वालजालाहतानां ।
परि गलितलतानां म्लायतां भूरुहाणाम् ॥
अपि जलधर शैलश्रेणिशृंगेषु तोयं ।
वितरसि बहु कोऽयं श्रीमदस्तावकीनः ॥ ३६ ॥

हे जलधर! दावानल समूहसे दग्ध,लतागलित, मलीन वृक्षों (का अनादर करके) तू शैलशृंगों पर जल बरसाता है, यह तेरा कैसा श्रीमद है! (जिसे आवश्यकता है उसको विस्मरण

करके जिसको किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं उसे दान देनेवाले धनमदमत्त राजा अथवा धनिक का वृत्तांतहै)

श्रृण्वन् पुरः परुषगर्जितमस्य हंत ।
रे पांथ विस्मितमना न मनागपि स्याः ॥
विश्वार्तिवारणसमर्पितजीवितोऽयं ।
नाकर्णितः किमु सखे भवताऽम्बुवाहः ॥ ३७ ॥

हे पथिक ! इस कठोर गर्जना को सन्मुख श्रवण कर तू अपने मन में किंचित भी विस्मित नहो! सखे? संसार दुःख शमनार्थ निज जीवन को अर्पण करने वाले इस अंबुवाह [जलधर] का नाम क्या तूने कभी नही सुना है! (परम परोपकारी परंतु कटुवादी सत्पुरुष का वृत्तांत है)

सौरभ्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं शैत्यंतु लोकोत्तरं ।
कीर्तिः किंच दिगंगनांगणगता किंत्वेतदेकंशृणु ॥
सर्वानेव गुणानियं निगिरति श्रीखण्ड ते सुन्दरान् ।
उज्झंती खलु कोटरेषु गरलज्वालां द्विजिह्वावली३८

हे चंदन ! तेरी सुगंध त्रैलोक्य मे विदित है, तेरी शीतलता सब से श्रेष्ठ है, तेरी कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त, है परंतु इतनी एक बात सुन कि तेरे खोखलवासी, विष उगलनेवाले, सर्प इन तेरे सर्व सुन्दर गुणों को नाश करते हैं (सत्पुरुष के सद्गुण दुष्ट समागम से लोप हो जाते हैं)

नापेक्षा न च दाक्षिण्यं न प्रीतिर्न च संगतिः॥
तथापि हरते तापं लोकानामुन्नतो घनः॥ ३९॥

ऊंचे मेघको न तो किसी बात की अपेक्षा है, न चतुरता है, न प्रीति है,न संगति है तथापि (इतना होने पै भी) वह मनुष्यों की ताप हरण करता है। (साधु अकारण ही परोपकारी होते है)

समुत्पत्तिः स्वच्छे सरसि हरिहस्ते निवसति।
विलासः पद्मायाः सुरहृदयहारी परिमलः॥
गुणैरेतैरन्यैरपि च ललितस्याम्बुज तव।
द्विजोत्तंसे हंसे यदि रतिरतीवोन्नतिरियम्॥ ४०॥

हे अम्बुज! स्वच्छ सरोवर से तेरी उत्पत्ति है, विष्णु के हाथ में तेरा निवास है, लक्ष्मी का तू विलासस्थान है, सुगंध तेरी देवताओं के भी मन को हरण करने वाली है, परंतु जो तू पक्षिश्रेष्ठ हंस से प्रीति करता तो ये और तेरे अपर गुण तुझ को परमोन्नत पदवी को पँहुचाते। अर्थात् गुण तेरे अभी भी श्रेयस्कर हैं परंतु जो तू हंसको अपना मित्र बनाता तो अत्यन्त ही प्रतिष्ठापात्र होता। (यदि दाता राजा अथवा किसी सज्जन मे कुछ दोष सूचित करता है तो यह अन्योक्ति सामयिक होगी)

---

१ अनुष्टुप्।

साकं ग्रावगणैर्लुठंति मणयस्तीरेऽर्कबिम्बोपमा ।
नीरे नीरचरैः समं स भगवान् निद्राति नारायणः॥
एवं वीक्ष्य तवाविवेकमपि च प्रौढिं परामुन्नतेः ।
किं निन्दाम्यथवा स्तवानि कथय क्षीरार्णवत्वामहम् ४१

हे क्षीरसागर! तेरे तीर पर सूर्य बिम्ब सदृश दीप्तिमान मणिया पाषाणो के साथ पड़ी रहती हैं और तेरे जलमे जल जंतुओं के बीच भगवान नारायण शयन करते हैं इस प्रकार का तेरा अविवेक तथा वैभव देख मैं तेरी निंदा करूं अथवा प्रशंसा करूं यह तूही कह! (जहाँ सत्कर्म के साथ असत्कर्म भी होते हैं वहां इस अन्योक्ति का भाव घटित करना चाहिए)

किं खलु रत्नैरेतैः किं पुनरभ्रायितेन वपुषा ते ।
सलिलमपि यन्न तावक, मर्णव वदनं प्रयाति
तृषितानाम् ॥ ४२ ॥

हे सागर! तेरे [अमूल्य रत्नों तथा तेरे मेघवत् (सुंदर) शरीर से क्या लाभ है जो तेरा जल भी पिपासाकुल प्राणियों के मुख में नहीं पडता ! (यदि श्रीमानने दान न दिया तो उसका धन व्यर्थ है)

इयत्यां सम्पत्तावपि च सलिलानां त्वमधुना ।

न तृष्णामार्त्तानां हरसि यदि कासार सहसा ॥
निदाघे चंडांशौ किरति परितोऽगारनिकरं।
कृशीभूतः केषामहह परिहर्तासि खलु ताम्॥४३॥

हे कासार! [सरोवर] अपनी सलिलरूपी संपत्ति से जो तू इस समय में पिपासाकुलितों की तृष्णा नहीं हरण करता है तो फिर ग्रीष्म ऋतु में प्रचंड सूर्य के सर्व ओर बरसाय हुए अंगारों से शुष्क हो जाने पर किसकी पिपासा शांत करैगा? (धनवान होकर यदि दान न दिया तो निर्धनत्व को प्राप्त होने से याचकों की इच्छा कैसे पूरणहो सकैगी?)

अयि रोषमुरीकरोषि नो चेत् किमपि त्वां प्रति वारिधे वदामः। जलदेन तवार्थिना विमुक्तान्यपि-तोयानि महान् न हा जहासि ॥ ४४ ॥

हे वारिधे? [समुद्र यदि तू रोष न करै तो मैं तुझ से कुछ कहूं। (कहना यहि है कि) तू महान होकर भी अपने याचक मेघ के त्यागे हुए जल को नहीं छोडता? (जिस वस्तु को एक वार किसी को देडाला उसे फिर फेर लेना सत्पुरषों को न चाहिये)

न वारयामो भवतीं विशंतीं।
वर्षानदिस्रोतसि जन्हुजायाः॥
न युक्तमेतत्तु पुरो यदस्या।
स्तरंगभंगान्प्रकटीकरोषि ॥ ४५ ॥

हे वर्षा ऋतु की नदि! गंगा के प्रवाह में जाने को मैं तुझे निषेध नहीं करता परंतु उसकी तरंगों को तुझे भंग न करना चाहिए (बड़े बड़े विद्वज्जनों की सभा में अल्पज्ञानी पंडितों का जाना अनुचित नहीं परंतु वहां अपनी चातुर्यता बतलाकर उनकी विद्वत्ता को लोप करने का प्रयत्न कदापि न करना-चाहिए। इस अन्योक्ति का कई प्रसंगों में उपयोग हो सकता है)

पौलोमीपतिकानने विलसतां गीर्वाणभूमीरुहां ।
येनाघ्रातसमुज्झितानि कुसुमान्याजघ्रिरे निर्जरैः ॥
तस्मिन्नद्य मधुव्रते विधिवशान्माध्वीकमाकांक्षति ।
त्वं चेदंचसि लोभमम्बुज तदा किं त्वां प्रतिब्रूमहे४६

हे अंबुज! जिस मधुकरने इन्द्र के नंदनवन में लगे हुए देवद्रुमों के पुष्पों की सुगंध, देवताओं की नासिका तक पहुंचने के पहिलेही ले ले कर छोंड़ दिया, दैववशात् अब तुझ से मकरंद पाने की इच्छा करने वाले उसी मधुकर से यदि तू अपने मकरंद का लोभ करता है तो मैं तुझ से क्या कहूं (यदि किसी महान पंडित ने दैवयोग से राजद्वार छोड़ किसी सामान्य पुरुष के पास आय कुछ याचना की और उसकी ओर ध्यान न दिया तो याचक का क्या गया; जिससे याचना की उसी की मान हानि हुई ऐसा समझना चाहिए)

प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मंजरी ।

---

१ उपेन्द्रवज्रा ।

पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जितानि रचयंस्तानातनोरुत्सवान् ॥
तस्मिन्नद्य रसालशाखिनि दशां दैवात् कृशामंचति।
त्वंचेन्मुंचसि चंचरीक विनयं नीचस्त्वदन्योऽस्तिकः ४७

हे चंचरीक! वसंत के आतेही जिस के चारों ओर कुसुमित मंजरी के पुंज में मंजु गुंजार करतेहुए तूने बड़ा सुख पाया अब दैववशात् उसी आम्रवृक्ष को कृशता ! पुष्प विहीनत्व) प्राप्त होनेसे यदि तू उससे स्नेह न रक्खेनगा तो तुझसे विशेष नीच और कौन है! (जब तक स्वामी संपत्तिमान है तब तक उसके यहां अनेक भोग कर अभाग्यवश उसें निर्धनत्व प्राप्त होने से केवल नीच ही उसका त्याग करते है, भले मनुष्य यदि सुख में साथी हुए तो दुख में भी अवश्य होते हैं)

मुक्ता मृणालपटली भवता निपीता ।
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि ॥
रे राजहंस वद तस्य सरोवरस्य ।
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ॥ ४८ ॥

अरे राजहंस! जिस सरोवर में निवास करके तूने मृणालतंतुओं का भोजन किया, जल पिया और चंद्राविकाशी कमलों का भी सेवन किया उस सरोवर का किस कृत्य से तूं प्रत्युपकार करेगा? संसार में बहुत से मनुष्य दूसरे की द्रव्य से अनेक सुख भोग करते हैं परंतु अपनी एक फूटी कौडी तक व्यय नहीं करते, किं बहुना प्रत्युपकार क्या है जानते ही नहीं।

उपरोक्त अन्योक्ति से इस प्रकार के मनुष्योंका वृत्तांत प्रतीत होता है ।

एणीगणेषु गुरुगर्वनिमीलिताक्षः ।
किं कृष्णसार खलु खेलसि काननेस्मिन् ॥
सीमामिमां कलयभिन्नकरीन्द्रकुंभ ।
मुक्तामयीं हरिविहारवसुन्धरायाः ॥ ४९ ॥

हे कृष्णसार हरिण! गर्व से अंध होकर हरिणीयोंके बीच इस वन में तू क्यों खेलता है? अरे सिंहविहारभूमि की इस सीमा को, जो गजेन्द्रों के विदीर्ण गंडस्थलसे गिरेहुए मुक्ताओं से सुशोभित है (शब्दार्थ समझ) क्या तू नहीं जानता? (महान चक्रवर्ती नरेश की राज्य में अविवेक से आए-हुए एक लघुतम राजा का वर्णनहै)

जठरज्वलनज्वलताप्यपगतशंकं समागतापि पुरः ।
करिणामरिणा हरिणा हरिणाली हन्यतां नु कथम् ५०

निःशंक सन्मुख [शरण] आएहुए हरिण के झुंड को करिवरशत्रु सिंह क्षुधार्त होने परभी कैसे मारे ! (कपट त्याग निःशंक होकर यदि वैरी शरण आया तो नीतिज्ञ उसे नहीं मारते । इसमें शब्दालंकारांतर्गत 'यमक' अलंकार है)

येन[1] भिन्नकरिकुंभविस्खलन् ।
मौक्तिकावलिभिरंचिता मही ॥

---

१ रथोद्धता छंद है ।

अद्य तेन हरिणान्तिके कथं ।
कथ्यतां नु हरिणा पराक्रमः ॥ ५१ ॥

जिस सिंह ने करिकुंभ[1] को विदारण करके उससे गिरे हुए गजमुक्ताओं से पृथ्वी को परिपूरित किया वह अब हरिणों के मारने में अपने पराक्रम को भला किस प्रकार वर्णन करैगा? (बड़े बड़े बली शत्रुओं के शिरश्छेदन करनेवाले वीर पुरुष सामान्य वैरीके उपर हाथ नहीं उठाते)

स्थितिं नो रे दध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे ।
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलायां वनभुवि ॥
असौ कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा ।
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ॥ ५२ ॥

अरे मदांध, मित्र, गजश्रेणी नाथ [गजेंद्र]! तू इस गहन-वनभूमि में क्षणमात्र भी न ठहर; (क्योंकि) हस्तीकी शंका करके बडे बडे पत्थरों के ढेर को भी अपने तीक्ष्ण नखोंसे विदारण करके इसकी गिरिगुहामें सिंहराज शयन करता है (महा प्रबल महीप जिसे शत्रु का उत्कर्ष किंचित भी सहन नहीं होता. उसके राज्य में अपने बल के गर्वसे आए हुए अल्पवैभव वाले राजा का वृत्तांत है)

गिरिगह्वरेषु गुरुगर्वगुम्फितो ।
गजराजपोत न कदापि सञ्चरेः ॥

---

१ हस्तीका मस्तक । २ मंजुभाषिणी छंद है ।

यदि बुध्यते हरिशिशुः स्तनन्धयो ।
भविता करेणुपरिशेषिता मही ॥ ५३ ॥

हे गजशावक! गर्व करके तू इस गिरिगुहा में कदापि संचार न कर (क्योंकि) यदि दुग्धपान करनेवाला सिंहपुत्र जानैगा तो (तुझे मार) पृथ्वी को गजिनीशेष करैगा अर्थात् पृथ्वी में गजिनीही रह जायगी तू नहीं (बड़े शौर्यवान शत्रुपुत्र के देश में प्रवेश की इच्छा करने वाले राजा के बालक को उपदेश है)

निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती ।
कृती मालाकारो बकुलमपि कुत्रापि निदधे ॥
इदं को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो ।
जगज्जालं कर्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥५४॥

वृक्षों के लगाने में परम कुशल, पुण्यवान, माली ने सहज स्वभाव से वाटिका में कहीं (बिना विचारे) बकुलको स्थापन किया, परंतु यह किसको विदित था कि यह एक कोने में लगा हुआ बकुल का पेड अपने पुष्पों की सौरभ से संसार को परिपूरित करैगा (विद्वानों का सभा में यदि आदर भी न हुआ और योग्य आसन भी न मिला तो भी समय पाकर वह अपने गुणों का प्रकाश करते ही हैं)

यस्मिन् वेल्लति सर्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलै ।

मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं हृदि हरिद्दंतावलाः पेदिरे ॥
सोऽयं तुंगतिमिंगिलांगकवलीकारक्रियाकोविदः।
क्रोडे क्रीड़तु कस्य केलिकलहत्यक्तार्णवो राघवः ५५

सागरके जल में जिसके क्रीडा करने से चारों ओर उठी हुई चंचल तरंगो के कोलाहल को श्रवण करके दिग्गजों के मन में मंदराचल (पर्वत) से समुद्रमंथन का भ्रम हुआ वही, बड़े बड़े मत्स्यों को भक्षण करने की क्रिया में कुशल, राघवनामी मत्स्यराज कलह के कारण समुद्र को छोंड़ और कहां केली करैगा? (यदि एक महान महीपाल अल्प कलह होने से अपनी राजधानी को त्यागना चाहे तो उचित नहि इस अन्योक्ति को कई दृष्टान्तौं मे घटित कर सकते हैं)

लूनं मत्तमतंगजैः कियदपि च्छिन्नं तुषारार्दितैः।
शिष्टं ग्रीष्मजभानुतीक्ष्णकिरणैर्भस्मीकृतं काननम्॥
एषा कोणगता मुहुः परिमलैरामोदयन्ती दिशो।
हा कष्टं ललिता लवंगलतिका दावाग्निना दह्यते ५६॥

कुछ वन को मत्त गजौं ने तोड डाला, कुछ तुषार से नष्ट हो गया, शेष ग्रीष्मर्तु के सूर्य की तीक्ष्ण किरणो ने भस्म कर दिया, रही यह सुंदर लवंगलता जो एक कोने मे लगी-हुई अपनी सुगंध से सर्व दिशाओं को सुगंधित करती थी उसे दावाग्नि दहन करती है; हाय हाय यह बड़े कष्ट की

बात है! (विजय किये हुए देश को छिन्न भिन्न करने के अनंतर भूल से शेष रही वह नगरी जिसमें सज्जनों का वासथा और जहां धर्म होता था उसके भी नष्ट करने पै कटि बांधने वाले दुराचारी राजा का वृत्तांत है)

स्वर्लोकस्य शिखामणिः सुरतरुग्रामस्य धामाद्भुतं
पौलोमीपुरुहूतयोः परिणतिः पुण्यावलीनामसि ॥
सत्यं नन्दन किन्त्विदं सहृदयैर्नित्यं विधिः प्राथ्यंते।
त्वत्तः खांडवरंगतांडवनटो दूरेऽस्तु वैश्वानरः ॥८७॥

हे नन्दनवन! तू सुरलोक का शिखामणी है, देवद्रुमों के उत्पन्न होने का एक अद्भुत स्थान है; इन्द्र और इन्द्राणी की परमोत्तम पुण्य का परिणाम [फल] है, यह सब सत्य है परंतु हम ईश्वर से नित्य यही प्रार्थना करते हैं किं खांडव-वनरूपी रंगभूमि में नृत्य करनेवाला नटरूपी अग्नि तुझ से सदैव दूर रहै (कोई सत्पुरुष किसी धार्मिकश्रेष्ठ का वर्णन करके यह प्रार्थना करता है कि दुष्टजन तुझे क्लेशकारी न होवैं)

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने ।
चंचूकोटिविपाटितापररपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात् ॥
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय ।
त्यन्तः सम्प्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः ९८

जब मनुष्य अपने अपने कार्य में मग्न होकर मुझ से दूर

चले जावेंगे तब मैं अपनी चोंच से खिड़की को तोड पिंजरे से निकल जाऊंगा, इस प्रकार के मनोरथरूपी पीयूष का स्वाद कीर [सुवा] ले ही रहाथा कि गजशुंडा के समान एक विशाल सर्प ने पिंजरे में प्रवेश किया (मनष्य सुखार्थ प्रयत्न करने को उद्यत होते हैं परंतु अभाग्यवश कार्यारंभ के पहिलेही प्रतिकुल बातैं हो ने लगती हैं)

रे चाञ्चल्यजुषो मृगाः श्रितनगाः कल्लोलमालाकुला-
मेतामम्बुधिगामिनीं व्यवसिताः संगाहितुं वा कथम्॥
अत्रैवोच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्तैः समावर्तितो ।
यद्ग्राहेण रसातलं पुनरसौ नीतो गजग्रामणीः॥५९॥

हे पर्वताश्रित चंचल मृग! जिसके ऊर्ध्वगामी जल समूह की विशाल भँवरों में पड़ने वाले गजेन्द्र को भी ग्राह [मगर] ने रसातल को पहुंचाया उस, तरंगो सें व्याप्त, सागरगामिनी महानदी की थाह लेने को तुम कैसे उद्युक्त हुए ? (जिस कार्य में बड़ों को ही यश न आया उसके करने को छोटों का कटिबद्ध होना मूर्खतामात्र है)

पिब स्तन्यं पोत त्वमिह मददन्तावलधिया ।
दृगन्तानाधत्से किमिति हरिदन्तेषु परुषान्॥
त्रयाणां लोकानामपि हृदयतापं परिहरन् ।
अयं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ॥ ६० ॥

---

१ में क्रीडा करने को ।

हे सिंह किशोर! तुम दुग्ध पान करो, मत्तगजेन्द्र की भ्रां ति करके दिशाओंकी ओर कठोर दृष्टि से न देखो (क्यों कि जिसे तुम उन्मत्त हस्ती समझते हो वह) यह त्रैलोक्य-की ताप को हरनेवाला और गंभीर ध्वनि करने वाला नील-वर्ण नवीन जलधर है (किसी सत्पुरुष को अपना शत्रु जा-न उसके उपर क्रोध करनेवाले राजकुमार का वृत्तांत प्रतीत होता है)

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको गर्भः।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येजठरं समुच्छलति ॥६१॥

(सिंहनी कहती है कि) कि हे मेघ! तू अपनी गंभीर ध्वनि को बस कर क्योंकि तेरे शब्दको मत्तगजेंद्र की गर्जना सम-झ एक महिने का ममगर्भस्थ बालक उदर में उछलने लगता है (प्रतापि पुरुषों को गर्भ में भी वैरी का नाद सहन नहीं होता) इस आर्या में 'संबंधातिशयोक्ति' अलंकार है।

वेतंडगंडकंडूतिपांडित्यपरिपंथिना ॥
हरिणा हरिणालीषु कथ्यतां कः पराक्रमः ॥ ६२ ॥

गजगंडस्थल[1] की कंडू [खुजली] को नाश करनेवाला सिंह हरिणो मे अपने किस पराक्रम को वर्णन करै? (वीर मनुष्य स्व समान पुरुषो ही मे अपना पराक्रम प्रकट करते हैं नीचौं मे नहीं)

---

१ हस्ती का मस्तक ॥

नीरान्निर्मलतो जनिर्मधुरता वामामुखस्पर्धिनी।
वासो यस्य हरेः करे परिमलो गीर्वाणचेतोहरः॥
सर्वस्वं तदहो महाकविगिरां कामस्य चाम्भोरुह।
त्वंचेत् प्रीतिमुरीकरोषि मधुपेतत्त्वां किमाचक्ष्महे६३

हे कमल! उत्पत्ति तेरी निर्मल जलसे है, मधुरता तेरी स्त्रीमुखमाधुर्य की भी ईर्षा करती है वास तेरा नारायण के हाथ मे है, सुगंध तेरी देवताओं के चित्त को हरण करती है और स्वयं तु महा कवियोंकी वाणी तथा कामदेव का सर्वस्व है (इतने अपूर्व गुण तुझम होकर भी) तू मधुप से प्रीति रखता है (तस्मात्) अब हम तुझ से क्या कहैं! अर्थात् तू नितांत श्रेष्ठ है सत्पुरुष उच्च पदवी को प्राप्त होने पै लघु जनो से घृणा नहीं करते किंतु यदि वे किसी कार्यार्थ उनके निकट आवे तो उचित सत्कार करके उनकी इच्छा पूर्ण किरते है)

लीलामुकुलितनयनं किं सुखशयनं समातनुषे॥
परिणामविषमहरिणा करिणायक वर्द्धते वैरं॥६४॥

हे गजेन्द्र! प्रेम से नेत्रों को बंद करके तू आनंद से क्यों शयन करता है? (अरे तू नहीं जानता कि) परिणाम में विषमता [प्राणनाथ] को पहुचाने वाला सिंह वैरभाव बढता जाता है! (पर राज्य मे आकर निश्चिंत हो विलासानंद मे निमग्न होनेवाले राजा को कोई सत्पुरुष उपदेश देता है। इस अन्योक्ति का उपयोग कई प्रसंगों में हो सकता है)

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यांति नो बहिः ॥
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव ॥ ६८ ॥

विद्वानों के मुख से सहसा [बिना विचारे] कोई शब्द नहीं निकलता यदि निकला तो हाथी के दंत समान निकल कर परामुख (मिथ्या) नहीं होना. (भाव सरल है--इसमे 'पूर्णोपमा' अलंकार जानना)

औदार्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं संभूतिरम्भोनिधे ।
र्वासो नन्दनकानने परिमलो गीर्व्वाणचेतोहरः ॥
एवं दातृगुरोर्गुणाः सुरतरोः सर्व्वेऽपि लोकोत्तराः ।
स्यादर्थिप्रवरार्थितार्पणविधावेको विवेको यदि ॥६६

हे सुरतरु! उदारता तेरी त्रिभुवन में विदित है, उत्पत्ति तेरी सागर से है, निवास तेरा नन्दनवन में है, सुगंध तेरी देवताओं के भी चित्त को हरण करती है; इस प्रकार तुझ दान श्रेष्ठ के य गुण, यदि तू याचकों की इच्छा पूर्ण करने में विवेक को धारण करता तो परमोत्तम होते (याचक दान लेने के योग्य हैं अथवा नही इस का विचार न करना दाताओं को उचित नहीं)

एको विश्वसतां हराम्यपघृणः प्राणानहं प्राणिना ।
मित्येवंपरिचिन्त्य मा स्वमनसि व्याधाऽनुतापं कृथाः।
भूपानां भवनेषु किंच विमलक्षेत्रेषु गूढाशयाः ।

साधूनामरयो वसंति कति नो त्वत्तुल्यकक्षाः
खलाः ॥ ६७ ॥

हे व्याध! तू अपने मन में इस प्रकार की चिंता करके संतापित न हो कि संसार में प्राणीयों के प्राण नाश करनेवाला मैंहीं एक मात्र निर्दई हूं (अरे) साधुओं [सत्पुरुषों] के प्राणनिधन करनेवाले और गूढ़ अभिप्रायवाले [मुख में एक मन में दूसरी बात के रखनेवाले] तेरे समान दुष्टजन राजमंदिरों तथा श्रेष्ठ तीर्थों में थोडे नहीं हैं अर्थात् बहुत हैं! (तात्पर्य यह कि क्षेत्रों और राजद्वारों में भी अनीति होती है। इस श्लोक में व्याध की सामान्यता और खलों की विशेषता वर्णन की इससे 'अर्थांतरन्यासालंकार' हुआ)

विश्वास्य मधुरवचनैः साधून् ये वंचयंति नम्रतमाः ॥
तानपि दधासि मातः काश्यपि यातस्तवापि च
विवेकः ॥ ६८ ॥

हे वसुंधरे जननि! तेरा भी विवेक जाता रहा (क्योंकि शरण आएहुओं में पात्रापात्र का विचार न कर सबका रक्षण करने को उद्यता हो) उन मनुष्यों को भी (तू अपने ऊपर) धारण करती है जो मधुर वचनों से विश्वास उत्पन्न करके साधुओं से भी छल करते हैं (सज्जन, शरणागत के दोषों पै ध्यान न देकर उसका परिपालन नहीं करते हैं । तेरा भी विवेक गया, इस प्रकार से पृथ्वी की निंदा करके

उसके परोपकार गुण का वर्णन किया इससे इस आर्या में 'व्याजस्तुति' और 'व्याजनिंदा' अलंकार की संसृष्टि हुई)

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्तिः ।
अन्यैव कापि रचना वचनावलीनां ॥
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्तहृद्या ।
विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥ ६९ ॥

विद्वानों के व्यापार, वाणी से वर्णन नहीं हो सकते; संसार का हित करनेवाली उनकी चित्तवृत्ति एक प्रकारकी और उनके बोलने चालने की पद्धति और ही प्रकारकी होती है, उनके कार्य लोकोत्तर हुवा करते हैं और उनका स्वरूप दुःखियों के दुःख का हरण करनेवाला होताहै. (सामान्य रीति से विद्वान प्रशंसा है)

आपद्गतः किल महाशयचक्रवर्ती ।
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम् ॥
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता ।
ल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति ॥ ७० ॥

श्रेष्ठजन आपत्तिकाल में उस उदारता को विस्तार करते हैं जिसे उन्होंने पहिले कभी (सुखावस्था में) नहीं प्रकाश किया था (सत्यही है) अग्नि में रखने से कालागुरु अपनी परमोत्तम सुगंध को प्रकट करता है। तात्पर्य यह कि सतपु-

रुष उदार तो होते ही हैं परंतु विपत्ति में वे अपने विशेष उदारत्व को प्रकट करतेहैं (इस श्लोक में सत्यपुरुषों के उदारत्व का सामान्य रीति से वर्णन करके कालागुरु के विशेष उदाहरण से अर्थ को दृढ़ किया इससे 'अर्थांतरन्यास' अलंकार हुआ)

विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानां ।
रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव ।
लोकम्पृणैः परिमलैः परिपूरितस्य ।
काश्मीरजस्य कटुतापि नितांतरम्या ॥ ७१ ॥

संसारके परमोत्तम गुणगौरव को धारण करनेवाले निर्मल बुद्धि पुरुषों का क्रोध भी मनोहर होता है मनुष्यों को संतोष देनेवाली सुगंध से परिपूरित केशर [कुंकुम] की कटुता भी अच्छी लगती है (इसमें भी 'अर्थांतरन्यास' अलंकार है)

लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पन्नराणां पुरो ।
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत् पामराः॥
अद्य श्वः फणिनां शकुंतशिशवो दन्तावलानां शशाः ।
सिंहानाञ्च सुखेन मूर्द्धसु पदं धास्यंति शालावृकाः ७२

पंडितों के मुख से निकलेहुए दो चार शब्दों की चोरी करके यदि दुष्टजन, लीला से शारदापुर की संपत्ति [पांडित्य] को लूटनेवाले अर्थात् महाविद्वान् पुरुषों के सन्मुख प्रगल्भता करैं तो (यह समुझना) कि आज काल में सर्पों के सिरपै पक्षियों के बालक, गजों के सिर पै शशा और सिंहों

के सिर पै शृगाल पैर रखवैंगे (इसमें प्रस्तुत मूर्खों का वर्णन करके अप्रस्तुत शशा, शृगालादि का वृत्त कह उनके गुण की सादृश्यता सूचित की इससे 'तुल्ययोगिता' अलंकार हुआ । यदि पंडितों के सन्मुख मूर्ख वाचालता करने लगैं तो शृगालो का सिंहों के मस्तक पै पाद रखना इत्यादि कुछ आश्चर्य नहीं इस प्रकार कहने से 'काव्यार्थापत्ति' अलंकार भी भासित हुआ)

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् । अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति[1] ॥ ७३ ॥

गुरु के कठोर शब्दों से जिनका तिरस्कार होता है वेही मनुष्य महत्व को प्राप्त होते हैं. बिना खराद पै चढाईहुई मणियां राजाओं के मुकुट में कदापि वास नहीं पातीं ('अर्थांतरन्यास' अलंकार है)

वहति विषधरान् पटीरजन्मा शिरसि मषीपटलं दधाति दीपः । विधुरपि भजतेतरां कलंकं पिशुनजनं खलु बिभ्रति क्षितीन्द्राः[2] ॥ ७४ ॥

चंदन सर्पों को शिरपर रहने देता है; दीपक कालिमा को रखता है. चन्द्रमा कलंक को धारण करता है! (और) नरेश दुष्टजनों को(अपने समीप भाग में) स्थान देते हैं (इस श्लो-

---

१ यह 'उपजाति' छंद है । २ 'पुष्पिताग्रा' छंद है ।

क में वहति, दधाति, भजति और भ्रमति इन चारों क्रियाप-दों का एकही सा अर्थ होता है इससे यदि इनमें से एकही लिखा जाता तो भी चारों का बोध हो जाता परंतु ऐसा न करके प्रत्येक कर्ता की क्रिया पृथक पृथक लिखी इससे 'अर्थावृत्तिदीपक, अलंकार हुआ)

सत्पूरुषः खलु हिताचरणैरमन्दमानन्दयत्यखिल-
लोकमनुक्त एव । आराधितः कथय केन करैरुदा-
रैरिन्दुर्विकाशयति कैरविणीकुलानि ॥ ७५ ॥

सत्पुरुष बिना कहेही अपने हितकर आचरण से अखिल-लोक को परमानंदित करते हैं। कहिए चंद्रमा की किसने आराधना [पूजा] की है कि जिससे वह अपनी उदार कि-रणों से कुमोदिनीकुल को विकासित करता है? (अर्थात् सज्जन स्वभावही से जगत का हित करते हैं किसी को उन्हें कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती । सत्पुरुष का वृत्तांत वर्णन करके चंद्रमा का उदाहरण दिया इससे 'दृष्टांत' अलं-कार हुआ)

कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कम् । प्र-
त्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति॥७६

सर्प के समान संसार में खल मनुष्य अपने ऊपर किएगए महदुपकार को दुग्ध सदृश निर्भय पान करके उलटा (उप-कार करनेवाले के) प्राण लेने को उद्यत होते हैं (इसमें पू-

र्णोपमा' अलंकार है— उपमान, उपमेय, वाचक और धर्म सब मिलते हैं)

खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विसृज्यते ।
अपायशंकिभिर्लोकैर्विषेणाशीविषो यथा ॥७७॥

आपत्ति की शंका से, विष होने के कारण सर्प के समान कपटदोषयुक्त खल, दूरही से त्याग किया जाता है ।

पाण्डित्यं परिहृत्य यस्य हि कृते बन्दित्वमा-
लम्बितं दुष्प्राप्यं मनसापि यो गुरुतरैः क्लेशैः
पदं प्रापितः ॥ रूढस्तत्र स चेन्निगीर्य्य सकलां
पूर्व्वोपकारावलीं दुष्टः प्रत्यवतिष्ठते तदधुना
कस्मै किमाचक्ष्महे ॥ ७८ ॥

पांडित्य को त्याग (राजा के सन्मुख) वंदित्व [वंदीजनों अर्थात् प्रशंसा करनेवालों के धर्मका] अवलंबन करके वह पदवी जो चित्त से भी मिलने को महा कठिन थी, मैंने जिस दुष्ट को महत क्लेश से प्राप्त कराया वह पद पै आरूढ हो मेरे पूर्वकृत सर्वोपकारों का कौर [विस्मरण] करके उलटा शत्रु भाव प्रकट करता है इससे अब इस समय में मैं किसके पास जाऊं और क्या कहूं? अर्थात् अब कुछ भाषण करने का अवसरही नहीं ।

परार्थव्यासंगादुपजहदपि स्वार्थपरतामभेदैक-
त्वं यो वहति गुण भूतेषु सततम् । स्वभावाद्य-

स्यान्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा समर्थो यो
नित्यं स जयतितरां कोऽपि पुरुषः ॥ ७९ ॥

स्वार्थको त्याग करके परार्थ के लिए सर्व मनुष्यों को जो संतत भेदरहित एक भाव से देखते हैं (शब्दार्थ—प्राणियों के प्रति भेदविगत एकत्वको संतत धारण करते हैं) जिनके अंतःकरण में स्वभावही से (दूसरों की) सुंदर तथा श्रेष्ठ महिमा स्फुरण होती है और जो नित्य (दूसरों के निवारण करने में)समर्थ हैं ऐसे सत्पुरुष (संसार में)जय पावैं! (साधारण सज्जन प्रशंसा है—इसमें समासोक्ति अलंकार है। इस श्लोक में 'तत्पुरुष' समास और सत्पुरुष [सज्जन] की समता पाई जाती है अर्थात् जो गुण 'तत्पुरुष' समास में अर्थ भेद से होते हैं वही सत्पुरुष के भी कहे हैं)

वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः । नहि तुंबीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥ ८० ॥

सद्वंश [उत्तम कुल] में जन्म पाने और गुणवान होने पै भी सत्संगसे मनुष्य पूज्य होता है (अर्थात् विना सत्संगके इन गुणोंसे युक्तभी मनुष्य शोभास्पद नहीं होता) वीणाका दंड जो बांसका बनता है बिना तुंबीके महिमा नहीं पाता (इसमें ' अर्थान्तरन्यास ' अलंकार है)

---

१ 'वंश' शब्द श्लिष्ट है ; उसका अर्थ 'कुल' का और 'बांस'काभी है।

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति । निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण-लशुन इव ॥ ८१ ॥

अनेक गुणसम्पन्न पदार्थ एक दोषके होनेसे भी निन्दित गिना जाता है! सर्व औषधियोंमें श्रेष्ठ लहसुन जैसे अपनी तीक्ष्ण गंधके कारण निंद्य है (इसमे 'पूर्णोपमा' है)

उपकारमेव तनुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम् ॥ मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ८२॥

सज्जन विपत्ति में भी उपकार करते हैं; इसमें मृतक अथवा मूर्छित [अर्द्ध मृतक] पारद [पारा] रस दृष्टांत है। अर्थात् पारा चाहै मृतक हो चाहै अर्द्ध मृतक हो परंतु गुण वह अवश्य करैगा (दृष्टांतालंकार है)

वनांते खेलंती शशकशिशुमालोक्य चकिता भुजप्रांतं भर्तुर्भजति भयहर्तुः सपदि या । अहो सेयं सीता दशवदननीता हलरदैः परीता रक्षोभिः श्रयति विवशा कामपि दशाम् ॥ ८३ ॥

वन मे क्रीडा करती हुई जो सीता एक शशा के बालक को भी देख चकित हो भय के नाश करनेवाले अपने पति श्री रामचन्द्रजी को, आलिंगन करती थी; हाय अब वही दशानन से हरण की हुई और बड़े बड़े हल समान दंतों वाले राक्षसों से व्याप्त, परवश कैसी दशा [अर्थात्—दुर्दशा] को

भात है! (सुष्ट राजा की राज्य से दुष्ट राजा की राज्य में विवश वास करनेवाली पीडित प्रजा का वृत्तांत प्रतीत होता है)

पुरो गीर्व्वाणानां निजभुजबलाहोपुरुषिकाम
हो कारंकारं पुरभिदि शरं सम्मुखतयः । स्मर-
स्य स्वर्ब्बालानयनशुभमालार्च्चनपदं वपुः सद्यो
भालानलभसितजालास्पदमभूत् ॥ ८४ ॥

देवताओंके सन्मुख अपने भुजबलके अहंकारको वारंवार कहनेवाले और शंकरके ऊपर बाणको चलानेवाले कामका (भी) शरीर, जिसका (अत्यंत सुंदर होनेके कारण) देवांगना भी दर्शन करती थीं (शंकर के) मस्तक से उत्पन्न हुई अग्निसे जलकर शीघ्रही भस्म होगया ! तात्पर्य-परम पराक्रमी, स्वरूपवान और गुणवान पुरुष भी महात्माओंका अपकार करने से नष्ट हो जाते हैं (काम शंकर को विजय करने की इच्छा से गया परंतु वहां वह स्वयं भस्म हुआ अर्थात् कारण कुछ कारज कुछ हुआ इससे ' विषम अलकार ' समझना)

युक्तं सभायां खलु मर्कटानां शाखास्तरूणां
मृदुलासनानि । सुभाषितं चीत्कृतिरातिथेयी
दंतैर्नखाग्रैश्च विपाटनानि[1] ॥ ८५ ॥

---

१ 'उपजाति' छंदहै यह इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मेलसे वर्तताहै

वंदरों की सभा में वृक्षों की शाखाओंके ही मृदुल आसन, चीत्कारहीं के सुभाषित[1] और दंतों और नखों से काटनेहीं के अतिथि सत्कार का होना उचित है (अविचारी मनुष्य जो चाहते हैं; करते हैं न बैठने के स्थान में बैठते हैं; न कहने की बात कहते हैं और न करने का कार्य करते हैं। चीत्कार मारना दंतों से दंश करना इत्यादि कपि की नीच जाति का धर्मही है ऐसा कहने से 'सम' अलंकार हुआ)

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मतिः किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतांधकारोदयः। किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनासंचयः ॥ ८६ ॥

नारायण के चरणकमल का भजन है तो तीर्थों से क्या? मति श्रेष्ठ है तो रत्नों से क्या? जिसका द्वैतरूपी[2] अंधकार नष्ट हो गया है उसको शास्त्रों के श्रवण करने से क्या? जिसे सर्व तत्त्वों का बोध है उसे संतत उपकार करने वाले मित्रों से क्या? और परम क्लेशकारी दुर्वासना से (बढ़के) शत्रु क्या? हे मित्र यह तू मुझ से कह? (इस श्लोक में तीर्थादिक उपमेयों की निरर्थकता वर्णन करने से 'प्रतीप' अलंकार हुआ)

निष्णातोऽपि च वेदांते साधुत्वं नैति दुर्ज्जनः।

---

१ अच्छे भाषण. २ ईश्वर और जीव में भेद मानना।

अच्छे भाषण ।

चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम् ॥८७॥

सर्वदा समुद्र मे निमग्न रहते भी मैनाक पर्वत जैसे कोमलता को नहीं प्राप्त होता, वैसे दुर्जन मनुष्य वेद पारंगत होने पर भी साधुता को नहीं धारण करता (इसमे 'पूर्णोपमा, और 'अवज्ञा' अलंकार की संसृष्टि है)

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।
शाखिनोऽन्ये विराजंते खंड्यंते चंदनद्रुमाः ॥८८॥

गुण गौरव(गुणज्ञता)का धिक्कार करके अर्थात् अपने गुण प्रकट न करके निर्गुणताही (भावार्थ मौनताही) धारण करना उचित है (क्योंकि जैसे वन के अपर वृक्षों के होते भी चंदन ही काटा जाता है) उसी प्रकार गुणीजन हीं अधिक त्रास दिये जाते इसमें ('अर्थांतरन्यास' अलंकार है)

परोपसर्पणानंतचिंतानलशिखाशतैः ॥ अचुंबितांतःकरणाः साधु जीवंति पादपाः ॥ ८९ ॥

दूसरे के आगमन की चिंतारूपी अनल की शिखा [ज्योति] ने जिनके अंतःकरण को नहीं चुंबन किया अर्थात् नहीं जलाया उन वृक्षों का जीवन श्रेष्ठ है (पादपान्योक्ति से कवि यह जताता है कि कार्यार्थ दूसरे पुरुषों के आने से जो दुखी नहीं होते अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक उनकी इच्छा शक्त्यनुसार पूर्ण करने को तत्पर रहते हैं वेही धन्य हैं । इससे यह भी ध्वनित होता है कि कोई आत्मनिंदा करता है और कहता है कि दूसरों को पत्र, फल, पुष्प देने में

तनिक भी शंका न करने वाले वृक्षोंका जीवन सुफल है; मेरा नहीं, क्यों कि मेरी दशा उनकी दशासे विपरीत है)

शून्येऽपि च गुणवत्तामातन्वानः स्वकीयगुण-
जालैः । विवराणि मुद्रयन् द्रागूर्णायुरिव सुजनो
जयति ॥ ९० ॥

अपने गुणगणों से मूर्खों (के हृदय) में भी गुणज्ञता को स्थापन करनेवाले और (उनके) छिद्रौं को शीघ्रही छिपाने-वाले मकरी के समान सज्जन पुरुष (संसार में) जय पावै- ('पूर्णोपमा' है—मकरी की उपमा यहां बहुत ठीक दी है; सज्जन अपने गुणौं से मूर्खों के शून्य हृदय को आच्छादन करते हैं, मकरी अपने तंतुओं (गुणौं) से शून्य स्थल को आवृत करती है; सज्जन दोषों के दुराने में प्रवीण होते हैं, मकरी छिद्रौं के)

खलः सज्जनकार्पासधक्षणैकहुताशनः ॥ परदुः-
खाग्निशमने मारुतः केन वर्ण्यताम् ॥ ९१ ॥

(संसार में) दुष्ट मनुष्य, सज्जनरूपी कपास को दग्ध क-रने के लिये अनल और परदुःखरूपी अग्निको (प्रचंड करने के लिए) पवन (के समान) हैं; (इनका) कौन वर्णन कर सकता है? (इसमें खलौं और सज्जनोंका समान रूपक कहा इससे 'अभेद रूपक' अलंकार हुआ)

परगुह्यगुप्तिनिपुणं गुणमयमखिलैः समीहितं

नितराम् ॥ ललितांबरमिव सज्जनमाखव इव
दूषयंति खलाः ॥ ९२ ॥

दूसरे की गुह्य बात को गुप्त रखने में निपुण, गुणगणसंपन्न, सर्व प्रिय, सुंदर वस्त्र सदृश सज्जन पुरुष को, मूषकरूपी खल दूषित करते हैं ('पूर्णोपमा' है; वस्त्र और सज्जनको सादृश्य में जो विशेषण कहे वे द्व्यर्थिक हैं सज्जन दूसरे की गोपन करने योग्य बात को गुप्त रखते हैं, वस्त्र शरीर के गुह्य भाग को आच्छादन करता है, सज्जन गुणवान होते हैं, वस्त्र गुण (तंतु—तागा) युक्त होता है; सज्जन सर्व प्रिय होते है, वस्त्र भी सबको प्रिय है.)

कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः ॥
यशःसौरभ्यलशुनः खलः सज्जनदुःखदः ॥९३॥

सत्पुरुषों को दुःख देनेवाले दुष्ट मनुष्य करुणारूपी कुसुम [पुष्प] को आकाश के समान हैं अर्थात् जैसे आकाश में पुष्प का होना असंभव है वैसे इनके हृदयरूपी आकाश में करुणारूपी कुसुम का होना भी संभव नहीं; शांतिरूपी शीतलता को अग्निके समान हैं अर्थात् जहां अग्नि है वहां शीतलता क्यों निकट आवेगी और यशरूपी सुगंध को लशुन [लहसुन] के समान हैं, लशुन में उग्रगंध होने के कारण उसके पास अपर सुगंध नहीं आती यह जगत्प्रसिद्ध बात है। (इसमें 'अभेदरूपक' अलंकार है)

धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां मर्म्मव्यथां स्पृशति शीतभवां रुजञ्च ॥ यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥ ९४ ॥

जो (परोपकारार्थ) फल, फूल, और पत्रों के भार को धारण करता है, मर्मस्थानों की वेदना (शाखा इत्यादिकके काटने के दुःख) तथा (अधिक) शीत पड़ने से उत्पन्न हुए रोगों को सहन करता है और दूसरों के सुख के हेतु अपने शरीर तक को अर्पण करता है उस दानशूर वृक्ष को मै नमस्कार करता हूं (संतत परोपकार करनेवाले सत्पुरुषों का स्वभाव तरुवरोंहीं का सा होता है)

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम् ॥ व्यालाधिपञ्च यतते परिरब्धुमद्धा यो दुर्ज्जनं वशयितुं कुरुते मनीषाम् ॥ ९५ ॥

जो मनुष्य दुर्जन के वश करने की बुद्धिको उपराजता है वह (मानो) हलाहलको पान, कालाग्नि को भली भांति चुंबन और प्रत्यक्ष भुजंगराज को आलिंगन करने की इच्छा करता है (दुष्ट के वशीकारण का यत्न करने से मनुष्य नाश को प्राप्त होता है यह भाव)

दीनानामिह परिहाय शुष्कसस्यान्यौदार्य्यं प्र-

कटयतो महीधरेषु॥औन्नत्यं परममवाप्य दुर्म्मदस्य ज्ञातोऽयं जलधर तावकोऽविवेकः[1] ॥ ९६ ॥

हे जलधर ! दीनजनों के शुष्क धान्य (के खेतों) को त्याग करके पर्वतों के ऊपर अपनी उदारता को प्रकट करनेवाले और अत्यंत उन्नतता को प्राप्त होनेवाले तुझ दुर्मद का अविवेक मुझको विदित है पात्रापात्र का विचार न करके दान देनेवाले भूपति अथवा अपर दानी मनुष्य का वृत्तांत ध्वनित होता है

गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्व्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम् ॥ तस्मादप्यतिगुरवः प्रलयेप्यचला महात्मानः॥ ९७ ॥

पर्वत श्रेष्ठ हैं; पर्वतों से पृथ्वी श्रेष्ठ है (क्योंकि पृथ्वी पर्वतों को धारण करती है); पृथ्वी से ब्रह्मांड श्रेष्ठ है (कारण ब्रह्मांड पृथ्वीका आधार है); ब्रह्मांड से महात्माजन श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे प्रलय काल में भी अचल रहते हैं अर्थात् उस समय सें भी उनका नाश नहीं होता (इस आर्या में उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व वर्णन किया इससे ' सार ' अलंकार हुआ)

व्योम्नि स वासं कुरुते चित्रं निर्माति सुन्दरं पवने ॥ रचयति रेखाः सलिले चरति खले यस्तु सत्कारम् ॥ ९८ ॥

---

१ 'महर्षिणी' वृत्त ।

जिसने खल का सत्कार (करके उसे प्रसन्न) किया उस ने (मानो) आकाशमें वास किया, पवनमें सुंदर चित्र खींचा और पानीमें रेखा बनाई,) तात्पर्य-खल का प्रसन्न करना सर्वथैव असंभव है-इसमें 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है)

हारं वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः । लेढि जिघ्रति संक्षिप्य करोत्युन्नतमाननम् ॥ ९९ ॥

किसी मूर्ख मनुष्य के द्वारा हृदय में (पहिनायेगए) हार (को मुख में डाल उस) का स्वाद ले, सूंघ और (नेत्रौं के) निकट ले जाकर वानर मुख को उंचा उठाता है (अनिज्ञ पुरुष को उत्तम पदार्थ देनेसे वह उसके गुणौं को न जान उलटा उसका निरादर तथा नाश करता है । जो वस्तु खाने के योग्य नही उसे मुख में मेलना और उसके साथ अनेक प्रकार की चेष्टा करना कपिका स्वभावही है इससे 'स्वभावोक्ति' अलंकार हुआ)

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि । त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनीं त्यजसि ॥ १०० ॥

हे भ्रमर ! तू कमलिनी को किस कारण से त्याग करता है? (अरे सुन) तू मलिन है (अर्थात् कृष्णवर्ण है,) तिस पै भी वह तुझसे अनुराग रखती है; तू वृथा बकवादी है(अर्थात् सर्वदा गुंजारही किया करता है;) परंतु वह विकसित

वदनही रहती है; तू चंचल है (अर्थात् तेरी चित्तवृत्ति चप-ल है, आज एक पुष्प पै कल दूसरे पै रमण करता है,) इतने पै भी वह सरस [रसवती] रहती है। (अनुरागादि गुणों से युक्त अपनी सती स्त्री को त्यागनेवाले कामी पुरुष का वर्णन है तात्पर्य यह कि ऐसी सुलक्षण रमणी का परित्याग उचित नहीं! प्रस्तुत कमलिनी का वृत्तांत अप्रस्तुत नायिकाके वर्णन में घटित होताहै इससे ' समासोक्ति ' अलंकार हुआ)

स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो यदास्यं भजे-
न्मलिनतां किमिदं विचित्रम् । गृह्णन्परार्थमपि
वारिनिधेः पयोपि मेघोयऽमेति सकलोऽपि च
कालिमानम् ॥ १०१ ॥

अपने हेतु धनवानों से(याचना पूर्वक)धन ग्रहण करने वाले मनुष्य के मुख का मलिन होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं; (देखिए) परार्थ भी सागरसे (धन संपत्ति तो दूर रही परंतु) जल भी लेने से संपूर्ण मेघ कालिमा [कृष्णवर्णत्व] को प्राप्त होते हैं। (यथार्थ है, संसार मे मागने से नीच पदार्थ दूसरा नहीं, इस श्लोक मे ' अर्थान्तरन्यास ' अलंकार है)

जनकः सानुविशेषो जातिः काष्ठं भुजङ्गमैः सङ्गः।
स्वगुणैरेव पटीरज यातोसि तथापि महिमानम् १०२

हे चंदनवृक्ष! पिता तेरा पर्वत का शिखर है, जाति तेरी काष्ठ की है, संग तेरा भुजंगमौं [सर्पौं] का है; तथापि (इत-

ना होने पै भी) तू अपने गुणों से महिमाको प्राप्त होता है (इसमें अप्रस्तुत चंदन की प्रशंसा करके उस सत्पुरुष का वृत्त वर्णन किया जो नीच कुलोत्पन्न और दुर्जनौं का संसर्गी होकर भी अपने सद्गुणों से अपनी कीर्ति संसारमें प्रसार करता है)

> कस्मै हन्त फलाय सज्जन गुणग्रामार्ज्जने सज्जसि स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय। ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः सम्भृतास्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनन्दिनं वर्द्धनम् ॥ १०२ ॥

हे सज्जन! हाय, तू किस फल के अर्थ गुणगणौंका संचय करने को कटिबद्ध होता है; यदि (यह अर्जन) आत्मा के पोषण के लिए है तौ मेरे हितकारी वचनों को श्रवण कर, (मुझे कहना इतनाहीं है कि) जो मनोहर भाव तेरे मन जो हरण करते है वे इस शरीर पोषक [विषयासक्तता प्रवृत्तक] कलिकाल (की दुखद अवस्था) को प्रतिदिन बढानेवाले हैं। (गुणगणौं अर्थात् सत, रज व तम गुण संबंधी वासना को श्रेयस्कर जान उसी के लिए परिश्रम करनेवाले पुरुष को कवि यह उपदेश देता है कि तू इस विषय में वृथा कष्ट न कर कलि के स्वभाव के प्रभाव से जगद्वासनाओं में जो प्रवृत्त होते हैं और शरीर को सुख देने

का प्रयत्न करते हैं वे माया पाश में दृढ़तर बद्ध होते जाते हैं। यह श्लोक वेदांत प्रतिपादक है; सारांश यह कि जगज्जाल को त्याग भगवत् शरण जानेही में सार्थकता है)

धूमायिता दश दिशो दलितारविन्दा देहं दहन्ति दहना इव गन्धवाहाः। त्वामन्तरेण मृदुताम्रदलाम्रमञ्जुगुञ्जन्मधुव्रत मधो किल कोकिलस्य ॥१०४॥

मृदुल और अरुण रंगके पर्णोंसे युक्त आम्र वृक्षमें मंजु गुंजार करते हैं मधुप जिस (ऋतु) में ऐसे हे मधु [ऋतुराज] तेरे विना कोकिल को, प्रफुल्लित कमलोंसे परिपूर्ण दशौ दिशा धूमित अर्थात् धूमसे परिप्लुत (सी दिखाई देती) हैं और सौरभ को वहानेवाला यह पवन अग्निके तुल्य उसकी देह को दहन करता है (आश्रय वस्तुके वियोग से जीवौं को सकल पदार्थ दुखद हो जाते हैं यह भाव)

भिन्ना महागिरिशिलाः करजाग्रजाग्रदुद्दामशौर्य्यनिकरैः करटिभ्रमेण। दैवे पराचि करिणामरिणा तथापि कुत्रापि नापि खलु हा पिशितस्य लेशः १०५

करिवरशत्रु सिंहनें बड़े बड़े पर्वतों की शिलाओं को हस्ती समुझ अपने नखौं के प्रवलप्रतापसमूह से विदारण किया; परंतु कष्ट की बात है कि दैव विपरीत होने से तौभी कहीं उसे मांसका लेश न मिला! (शिला में मांस का मिलना कैसे संभव हो सकता है; तात्पर्य यह कि, ईश्वर के अनुकूल

न होने से महान पराक्रमी पुरुषों को भी, चाहै वे जैसा उद्योग करैं, यश नहीं मिलता)

गर्जितमाकर्ण्य मनागङ्के मातुर्निशार्द्धजातोऽपि । हरिशिशुरुत्पतितुं द्रागङ्गान्याकुञ्च्य लीयते निभृतम् ॥ १०६ ॥

(मेघ अथवा हस्ती अथवा अपर किसी बली वनपशु की) गर्जना को श्रवण कर अर्द्ध रात्रिमें उत्पन्न हुआ सिंहकिशोर माता के गोदमें कुछ ऊपर उछल और शीघ्रही सवागौं को आकुंचित कर वहीं का वहीं लीन होगया अर्थात् अधिक शक्ति न होने के कारण और कुछ न कर सका (तेजस्वी पुरुषोंका प्रकार विलक्षण होता है। सिंह सर्वदा गजके ऊपर आक्रमण करनेमें तत्पर रहता है परंतु इसमें स्वप्रकारकी विशेषता वर्णन को इससे ' संबंधातिशयोक्ति ' अलंकार हुआ)

किमहं वदामि खल दिव्यतमं गुणपक्षपातमभितो भवतः । गुणशालिनो निखिलसाधुजनान् यदहर्निशं न खलु विस्मरसि[१] ॥ १०७ ॥

हे खल ! तू, गुणज्ञ सर्व सज्जन पुरुषों को निशि दिन (मे कभी भी) नहीं विस्मरण करता इससे मैं तेरे जगद्विख्यात दिव्यतम [परम श्रेष्ठ] गुणपक्षपात के विषय में क्या कहूं ?

---

१ 'प्रमिताक्षरा' छंद है ।

(दुर्जन सर्वदा सत्पुरुषों से द्वेष रखते हैं ऐसा स्पष्ट न कहकर यह कहा कि तू उनको विस्मरण नहीं करता; इसप्रकार की प्रशंसा करना निंदा हुई इससे इस श्लोक में ' व्याज निंदा अलंकार समुझना चाहिये)

रे खल तव खलु चरितं विदुषां मध्ये विविच्य वक्ष्यामि । अथवालं पापात्मन् कृतया कथयापि ते हतया ॥ १०८ ॥

अरे खल ! मैं तेरे (नष्ट) चरितों को सत्पुरुषों के बीच में भली भांति प्रकट करूंगा (इस प्रकार का मेरा विचारथा) परंतु हे पापात्मन् ! तेरे दुष्कृत्य (जिन्हें तू प्रत्यक्ष करता है कहने में भी मेरा चित्त दुखित होता है इससे उन महानिंद्य कर्मों) का उल्लेख भी बस है अर्थात् वैसा स्वमुखसे कहना भी मुझे असह्य है (इसमें खल चरित्र वर्णन करना अंगीकार करके फिर उसका निषेध किया इससे ' प्रतिषेध ' अलंकार हुआ)

आनंदमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः ॥ ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः ॥ १०९ ॥

(इस संसार में) खलों का समागम आनंदरूपी मृग के (नाश करने के) लिए अग्नि; शीलरूपी वृक्षके (उखाडने के) लिए मत्त हस्ती और ज्ञानरूपी दीप के (बुझाने के) लिए प्रचंड पवन है (इसमें आनंदमृग, शील शाखि, ज्ञानदी-

प के प्रति खल में कोई भेद न रख उसी अकेले को अग्नि द्विप और वायु बनाया इससे 'अभेदरूपक' अलंकार हुआ)

खलास्तु कुशलाः साधुहितप्रत्यूहकर्म्मणि ।
निपुणाः फणिनः प्राणानपहर्त्तुं निरागसाम् ॥ ११० ॥

निरपराधी जीवों के प्राण हरण करने में (जैसें) सर्प प्रवीण होते हैं (वैसेही) सत्पुरुषों के अहित करने में दुर्जन कुशल होते हैं (उपमेय जो साधु और उपमान जो सर्प इनके धर्म में समानता कहने से 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार हुआ)

वदने विनिवेशिता भुजंगी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा । अनया कथमन्यथावलीढा नहि जीवंति जना मनागमंत्राः ॥ १११ ॥

ब्रह्मानें पिशुनजनों[पर छिद्र ढूढ़नेवाले पुरुषों] के मुख में जिह्वाके मिषसे सर्पिणी स्थापन की है, यदि (किसी को शंका उत्पन्न हो कि यह बात) अन्यथा है तो (उसके निवृत्यर्थ यही प्रश्न है कि जो जिह्वा भुजंगी नहीं तो) उस से किंचित् मात्र भी स्पर्श किये गए मंत्रहीन [अविवेकी] मनुष्य क्यों नहीं जीते अर्थात् क्यों प्राण त्याग करते हैं?(इसमें दुर्जनों की जिह्वाको भुजंगी कह कर अर्थ के दृढ़ करने के लिए मनुष्यों का प्राण त्याग करना सहेतुक विशेषण दिया इससे 'काव्यलिंग' अलंकार हुआ । जिह्वा के धर्म को गोपन

१ यह 'माल्यभारा' वृत्त है ।

करके सर्पिणी के धर्म के आक्षेपण से ' अपह्नति ' अलंकार भी हुआ)

कृतं महोन्नतं कृत्यमर्जितं चामलं यशः ॥ यावज्जीवं सखे तुभ्यं दास्यामो विपुलाशिषः ॥११२॥

हे मित्र ! तूने परम श्रेष्ठ कार्य किया और विमल यश संपदा इससे मैं तुझे यावज्जीवन अनेकानेक आशीर्वचन देता रहूंगा (अत्युपकार करनेमें असमर्थ हूं यह भाव) दूसरा अर्थ व्यंग से ऐसा लगाना कि तूनें उत्तम कृत्य किया अतएव विमल यश का भागी हुवा. इससे जब तक प्राण हैं मैं तुझे आशीश दिया करूंगा (अपकार करनेवाले की इस प्रकार प्रशंसा करके तो दुष्ट कृत्यसे उत्पन्न हुआ दुःख कभी न भूलूंगा यह सूचित किया)

अविरतं परकार्य्यकृतां सतां मधुरिमातिशये न वचोऽमृतम् । अपि च मानसमंबुनिधिर्य्यशोविमलशारदपार्व्वणचंद्रिका ॥ ११३ ॥

संतत परोपकार करनेवाले सत्पुरुषों के वचन अत्यंत मधुर होने से अमृत (के तुल्य होते) हैं, हृदय सागर (के तुल्य) और यश शरत्कालके पूर्णिमाकी विमल चन्द्रिका (के तुल्य होता) है (वचन और अमृत, हृदय और सागर, यश और चन्द्रिका का समान स्वरूप प्रतिपादन किया इससे ' अभेद रूपक ' अलंकार हुआ)

---

१ यह 'द्रुतविलंबित छंद है ।

एत्य कुसुमाकरो मे संजीवयिता गिरं चिरं म-ग्नाम्। इति चिंतयतो हृदये पिकस्य सम-धायि शौभिकेन शरः ॥ ११४ ॥

वसंत के आने से मैं (अपनी) पुनरुज्जीवित की गई (मनोहर) वाणी में (फिर) चिरकाल पर्य्यंत मग्न हो जा-ऊंगी इस प्रकार विचार करनेवाली कोकिल के हृदय में व्याधनें शर मारा (मनमोदक धरेही रहे, उलटा प्राण गया यह भाव)

निर्गुणः शोभते नैव विपुलाडंबरोपि ना । आ-पातरम्यपुष्पश्रीशोभिता शाल्मलिर्यथा॥११५॥

(भूमि पै) पतन होने पर्य्यंत रमणीय सुगंधहीन पुष्पोंसे शोभित शाल्मली[1] वृक्ष के सदृश विपुल आडंबर [बनाव-ट] करने से भी मनुष्य शोभा को नहीं प्राप्त होते (मनुष्य का परम भूषण तो गुण है यदि वही नहीं तो वस्त्रालंकारोंसे कितनी शोभा हो सकैगी इसमें 'पूर्णोपमा' अलंकार है)

पंकैर्व्विना सरो भाति सदः खलजनैर्व्विना । कटु-वर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना ॥ ११६ ॥

पंक [कीच] के विना सरोवर की, दुर्जनों के विना सभा की, कठोर वर्णों के विना काव्य की और विषय वासना के

१ शाल्मली (सेमर) उस वृक्षका नाम है जिसमें रेशमके समान एक प्रकारकी रुई निकलती है ।

विना मन की शोभा होती है (इसमें 'दीपक' और 'विनोक्ति' अलंकार का संकर है । 'शोभा' शब्द का अर्थ कई स्थानो में विना उसके प्रयोग कियेही भासित होने से 'दीपक' और सर्व उदाहरणों में कुछ न्यूनता होने की अवश्यकता प्रकट करने से 'विनोक्ति' अलंकार हुआ)

तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि ।
मार्मिकः को मरंदानामंतरेण मधुव्रतम् ॥ ११७ ॥

संसार में काव्य के दुर्बोध भावौं को विरलेही जानते हैं, मधुप के विना मकरंद के मर्मको कौन जान सकता है ? अर्थात् कविताके गूढ तत्त्वोंका ज्ञान पंडितोंहीं को होता है (इसमें मधुपके दृष्टांतसे अर्थको दृढ़ किया इससे 'अर्थांतरन्यास' अलंकार हुआ)

सरजस्कां पांडुवर्णां कंटकप्रकरान्विताम् । केतकीं सेवसे हंत कथं रोलंब निस्त्रप ॥ ११८ ॥

हे निर्लज्ज मधुकर ! रजःकणको धारण करनेवाली, पांडुवर्ण, कंटक समूह युक्त केतकी की, हाय तू कैसे सेवा करता है? यह श्लोक व्यर्थ सूचक है; पक्षांतर में 'सरजस्कां' से रजस्वला! 'पांडुवर्णां' से पीतवर्णा और 'कंटकप्रकारान्विताम्' से रोमांचवती स्त्री समुझना चाहिए (अप्रस्तुत भ्रमर वृत्तांत वर्णन से रजस्वला रमणी का संग करनेवाले कामी पुरुषका वृत्त प्रतीत होता है)

यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः॥११९॥

जैसे तान के विना राग, मान [आदर] के विना नृप और मदोदक के विना हस्ती (शोभा नहीं पाता) वैसेही ज्ञान के विना यती [संन्यासी] सुशोभित नहीं होता (इसमें ' विनोक्ति ' और ' उपमा ' अलंकार की संसृष्टि है)

संतः स्वतः प्रकाशंते गुणा न परतो नृणाम्। आमोदो नहि कस्तूर्य्याः शपथेन विभाव्यते॥१२०॥

मनुष्यों के सद्गुण स्वयं हीं प्रकाश होते है, नकि दूसरों (के प्रकाश करने) से! कस्तूरी की सुगंध शपथ (पूर्वक कहने) से नहीं जानी जाती अर्थात् जहां कस्तूरी होती है वहां उसकी परिमल आपही आप प्रकट होती है (मनुष्यों के उत्तम गुणौ का वर्णन करके कस्तूरी के दृष्टांतसे अर्थ को दृढ़ किया इससे ' अर्थान्तरन्यास ' अलंकार हुआ)

अपि बत गुरुगर्व्वं मास्म कस्तूरि यासीरखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण। गिरिगहनगुहायां लीनमत्यंतदीनं स्वजनकममुनैव प्राणहीनं करोषि॥१२१॥

हे कस्तूरिके! अखिल परिमलों में श्रेष्ठ होने से तू (अपने मन में) इतना गर्व न कर; हाय! (क्या तू नहीं जानती) कि इसी सौरभ से तू, पर्वत की अंधेरी गुहा में लीन हुए

अत्यंत दीन अपने (उत्पन्न करनेवाले) पिता (मृग) का प्राण हरण करती है (अप्रस्तुत कस्तूरिका वृत्तांत वरणन करके संपत्ति की निंदा की है; यह तो प्रसिद्ध ही है कि लक्ष्मी जिसके पास होती है उसके प्राण, चोर इत्यादिकों से हरेजाने का सदा भय रहता है। संपत्तिमान पुरुष का भी वृत्तांत इससे प्रतीत होता है; क्योंकि जिस धनका वे गर्व करते हैं वही उनके प्राण लेने का कारण होता है; इससे श्रीमंत होकर दर्प न करना चाहिए यह सूचित किया। क-स्तूरी के गुणौं मे दोषारोपण करने से 'लेश' अलंकार हुआ)

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्त-
नमघं चुलुकीकरोति। भूतेषु किंच करुणां बहुली-
करोति संगः सतां किमु न मंगलमातनोति॥१२२॥

सत्संग कौन कौन मंगल नहीं करता कुमति को दूर करता है, अंतःकरण को विमल करता है, जन्मांतरोंके पापों कों घटाता है, (और) प्राणियों में दया को बढाता है। (मंगल करना और अमंगल हरना यह सत्पुरुषों का स्वभावही है इससे 'स्वभावोक्ति' अलंकार हुआ)

अनवरतपरोपकारव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।
आपातकाटवानि स्फुरंति वचनानि भेषजानीव १२३॥

विमल अंतःकरणवाले (और) परोपकार (करने की चिंता) में निरंतर व्यग्र रहनेवाले सत्पुरुषों के वचन औषध

के समान आदिमें कटु होते हैं जैसे भेषज खाने के अनंतर गुण जान पडता है उसी प्रकार सुजनों के कटु शब्द आगे महामंगलकारी होते हैं यह भाव. इस आर्या में ' पूर्णोपमा ' अलंकार है। ' पूर्णोपमा ' में उपमान, उपमेय, वाचक और धर्म चारों स्पष्ट रीति से दृश्य होते हैं

व्यागुंजन्मधुकरपुंजमंजुगीतान्याकर्ण्य श्रुतिमदजालक्ष्यातिरेकात् । आभूमीतलनतकंधराणि मन्येऽरण्येऽस्मिन्नवनिरुहां कुटुंबकानि ॥ १२४ ॥

मेरी जान मधुकरों के झुंड के गुंजाररूपी मंजुल गीत सुन गानमें मनके लीन होजाने से इस वन के विवश वृक्ष समूहों के कंधे [शाखें] पृथ्वी तक झुक आई हैं अर्थात् उनकी डालियां भूमि पै लग गई हैं (पत्र, फल अथवा पुष्प के भार से नम्र होने वाले वृक्षोंके उपर उत्प्रेक्षा की है—जहां कुछ तर्क किया जाता है वहां ' उत्प्रेक्षालंकार ' होता है—यहां वृक्षों के झुकने का हेतु भ्रमरों के गान का सुनना कहा इससे ' हेतूत्प्रेक्षा ' अलंकार हुआ)

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा विमार्गगायाश्च रुचिः स्वकांते । सर्पस्य शांतिः कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ न हि दृष्टपूर्वा ॥ १२५ ॥

मृतक का पुनरपि जीवन, कृपण का दातृत्व, व्यभिचारिणी स्त्रीकी निज पतिमें प्रीति, सर्प की शांति और कुटिल

१ 'प्रहर्षिणी' छंदहै । १ 'उपेन्द्रवज्रा' छंद ।

मनुष्यों की मित्रता ब्रह्मदेव की सृष्टि में कभी नहीं देखी गई अर्थात् इन सब बातों का होना असंभव है (यह भी अर्थ इसमें भासित होता है कि कुटिलों की मित्रता संपादन करना कैसे संभव नहीं जैसे मृत मनुष्य का पुनरूज्जीवन कृपण का दान इत्यादि । अनेक पदों का निर्वाह एक क्रिया से करने से इस श्लोक में 'दीपक' अलंकार हुआ)

उत्तमानामपि स्त्रीणां विश्वासो नैव विद्यते ॥ रा-
जप्रियाः कैरविण्यो रमंते मधुपैः सह ॥ १२६ ॥

उत्तम स्त्रियों का भी विश्वास न करना चाहिए; (देखिए) चन्द्रमा की परमप्रिय कुमोदिनी [चन्द्रविकाशी कमलिनी] भ्रमरों के साथ विहार करती हैं;! (स्त्रियों मे विश्वास न करने के अर्थ को कुमोदिनी के उदाहरण से समर्थन किया इससे 'काव्यलिंग' अलंकार हुआ)

अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति ॥ सर्व्व-
स्वं चापि हरते विधिरुच्छृंखलो नृणाम् ॥ १२७ ॥

मनुष्यों की स्वतंत्र (अर्थात् जो चित्त में आवै वही करनेवाली) भाग्य, जिन्है न चाहिए उन्हैं सुख देती है. जिन्है चाहिए उन्हैं नहीं देती (और मन में आने से जिसका चाहती है उसका) सर्वस्व तक हरण करती है! (तात्पर्य यह कि 'विधिगति अति बलवान')

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डांशुग-

१ 'विधि' शब्द से ब्रह्मका भी अर्थ होता है ।

ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमंडलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरण-
म् ॥ वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावली-
ताण्डवभ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न-
क्षितीशः स्मरेत् ॥ १२८ ॥

(हे राजन् !) भुजद्वय से चक्राकार कियेगए शोभायमान धन्वा से (निकले हुए) तीव्र बाणों (के प्रहार) से परम पराक्रमी शत्रु मंडल के विध्वंश करनेवाले आपको, समर भूमि में अवलोकन कर, कौन भूपाल (ऐसा है जो), घोर शब्द करनेवाले गांडीव नामक धनुष से छूटे हुए शर समूहों की ज्वाला के नृत्य से नष्ट होने वाले खाण्डव वनसें रुष्ट पांडव [अर्जुन] का स्मरण न करे ? (युद्धविद्या प्रवीण राजाका स्तवन है। इसमें 'स्मृति ' अर्थात् ' स्मरण ' अलंकार है)

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः ॥ मण्डि-
ताखिलदिक्प्रांताश्चण्डांशोः पान्तु भानवः॥१२९॥

इति श्रीमत्पण्डितराजजगन्नाथकविविरचितेभामि-
नीविलासे प्रास्ताविको नाम प्रथमो विलासः ॥ १ ॥

खंडिता[१] नायिका की नेत्ररूपी कमल पंक्तियों को सुख देने में कुशल (और) सर्व दिग्भागों को शोभायमान करने-वाली सूर्य की किरणों (आपकी) रक्षा करैं ! (यह श्लोक आशीर्वादात्मक है । प्रातःकालपर्यंत निद्रित किसी राजा

१ खंडिता उस नायिका को कहते है जिसका पति सर्व रात्र दूसरी स्त्रीके साथ व्यतीत कर प्रातःकल अपने गृह आताहै ।

अथवा अपर किसी सत्पुरुष को कवि इस श्लोक से आशी-र्वाक्य कहते हुए निद्रा त्याग करना सूचित करता है)

भामिनीविलास के प्रास्ताविक नामक प्रथम विलास का प्राकृत भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥

अथ भामिनी विलासे।

द्वितीयः शृंगार विलासः।

न मनागपि राहुरोधशंका न कलंकानुगमो न पांडुभावः। उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम्[1] ॥ १ ॥

हे भामिनि! तेरे मुख (चंद्र) के आस पास अवर्णनीय शोभा नित्य ही रहती है,न तो उसे राहु से तनिक भी आच्छादित होने की शंका, न कलंक का अनुगम और न पांडु वर्ण (होने का भय) अर्थात्—चंद्रमा में ये तीन दोष हैं परंतु तुझमें इनमें से एक भी नहीं, इस से तेरे निष्कलंक मुखका परम शोभायमान होना उचित ही है। (चंद्रमा उपमान और भामिनी मुख उपमेयहै, उपमान से उपमेय में विशेषता वर्णन की इस से 'व्यतिरेक' अलंकार हुआ)

नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि। यदि कोमलता तवांगकानामथका नाम कथापि पल्लवानाम्[2] ॥ २ ॥

---

१ यह 'माल्यभारा' छंदहै। २ 'माल्यभारा' छंद।

(अब जगन्नाथ राय जी अंगकी कोमलताका वर्णन करते हैं और कहते हैं, हे भामिनी !) यदि तेरे अंग की कोमलता (की अपर पदार्थ से साम्यता करना चाहैं तो अ-संभव) है; सरोजमाल (तेरी कोमलता सन्मुख) अत्यंत कठोर (लगते है,) कमलनाल की कोमलता विचारणीय ही नहीं (जब इन के सदृश कोमल वस्तुओं की यह दशा है) तो फिर पल्लवों की कथा का क्या नाम लेना, अर्थात् वे बिचारे क्या साम्यता करैंगे तात्पर्य यह कि तेरी अनुपम कोमलता की उपमा मिलना परम दुस्तर है

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपाली दोलायितश्र-
वणकुंडलवंदनीया । आनंदमंकुरयति स्मरणेन
कापि रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥ ३ ॥

सुरा समान अरुण नेत्रवाली (भामिनी) की वह रम-णीय दशा, जिस में प्रस्वेद जल के घने कणों से (कोमल) कपोल भाग शोभित हो रहा है और दोलायमान [हिलने वाले] श्रवण कुंडल से वंदनीय है जो, स्मरण होने से (मेरे हृदय में) आनंदांकुरका उद्भव करती है । (यह विपरीत रति वर्णन है)

कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं स्मेरानना
सपदि शीलय सौधमौलिं । प्रौढिं भजंतु कुमुदा-
नि मुदामुदारामुल्लासयंतु परितो हरितो मुखानि ४

हे आलि! कस्तूरी तिलक धारण करके हास्यमुखी हो त्साती संध्याकाल मै तू गृह की गच्ची पै गमन कर (जिसमें) प्रमोदयुक्त कुमुदगण विकाश पावैं, और दिशाओं के आसमंताद्भाग उल्लसित (भावार्थ—प्रकाशित) होवैं । (इस प्रकार का व्यापार होना संभव नहीं परंतु यहाँ उसका संबंध वर्णन किया इससे 'संबंधातिशयोक्ति' अलंकार हुआ. 'रूपक' अलंकार भी भासित होता है मुखको चंद्र मान कस्तूरी तिलक से कलंकित किया और हास्यरूपी चांद्रिका को प्रकाशित कर चंद्रविकाशी कमलों को विकसित और दिशाओंको प्रकाशित करना दरसाया)

तन्मंजुमंदहसितं श्वसितानि तानि सा वै कलंकविधुरा मधुराननश्रीः । अद्यापि मे हृदयमुन्मदयंति हंत सायंतनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥ ८ ॥

संध्या समय में (फूलनेवाले चंद्रविकाशी) कमल के समान नेत्रौंवाली (भामिनी) की वह मंजुल मंद हसनि, वे वचन और वह निष्कलंक मनोहर मुखकी छवि अभी तक मेरे मन को क्षोभित करती है हाय यह बडा दुःख है! (यह विरही नायक की उक्ति है)

प्रातस्तरां प्रणमने विहिते गुरूणामाकर्ण्य वाचममलां भव पुत्रिणीति । नेदीयसि प्रियतमे परमप्रमोदपूर्णादरं दमितया दधिरे दृगन्ताः ॥ ६ ॥

प्रातःकाल गुरुजनों को प्रणाम करने में ' पुत्रवती हो ' इस प्रकार के सुंदर वचनों को सुन, परम प्रमुदित हो बडे आदर से समीपभागस्थित अपने पति की ओर स्त्री ने दृष्टी की। (इस श्लोक में यह भाव ध्वनित होता है कि उस नायका का पति या तो मूर्ख है इससे विलासादिक सुखों को जानता ही नहीं; अथवा जार है इस कारण स्वपत्नी से प्रीति नही करता; अथवा बालक है इससे निज स्त्री को प्रसन्न करने में समर्थ नहीं। ' पुत्रिणी भव ' इस आशीर्वाक्य को श्रवणकर नायकाने पति की ओर देखकर यह सूचित किया कि इन शब्दों की सार्थकता करौ अथवा यदि वैसा करने को तुम समर्थ नहीं तो आज्ञाही दो कि मै स्वयं उसका उपाय करूं। इस से यह भाव भी दर्शित होता है कि जो यह आशीर्वाद सत्य होगा तो मेरा पतिव्रत भंग समुझना और जो पतिव्रत भंग न होगा तो गुरुजनों के वाक्य मृषा जानना)

गुरुजनभयमद्विलोकनान्तःसमुदयदाकुलभावमुद्वहन्त्यः।दरदलदरविन्दसुंदरे हा हरिणदृशो नयने न विस्मरामि ॥ ७ ॥

गुरुजनों का भय है जिसमें ऐसे अवलोकन से उत्पन्न हुए आकुल भाव को प्राप्त होनेवाली मृगनयनी (भामिनी) के किंचित विकसित कमल के समान सुंदर नयनौं का विस्मरण

मुझे नहीं होता (अर्थात् मैं सदैव उनका स्मरण करता रह-ता हूं, कभी भूलता नहीं)

बदरामलकाम्रदाडिमानामपहृत्य श्रियमुन्नतौ क्रमेण । अधुना हरणे कुचौ यतेते दयिते ते करिशावकुम्भलक्ष्म्याः ॥ ८ ॥[1]

हे कांते ! क्रम क्रम से ऊंचे उठनेवाले तेरे कुचद्वय, बेर (बदरीफल,) आमला (आमलकधात्रीफल,) आम्र और दाडिम (अनार) की शोभा को हरण करके अब इस काल में गजशावक के गंड़स्थल की शोभा हरने का प्रयत्न करते हैं (मुग्धा नायका की उस अवस्था का वर्णन है जिसमें शरीर कांति दिन प्रति बढती जातीहै । इस श्लोकमें कुचौं का उत्त-रोत्तर उत्कर्ष वर्णन किया इससे ' सार ' अलंकार हुआ)

जंबीरश्रियमतिलंघ्य लीलयैव व्यानम्रीकृतकम-नीयहेमकुंभौ । नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते स्पर्धेते किल कनकाचलेन सार्धम् ॥ ९ ॥[2]

हे नीलकमल लोचन ! जंबीर नीबूकी शोभा को उलंघ-न करके, निज लीला से सुन्दर हेमरूपी कुंभौं [घटौं] को नम्र करने (जीतने) वाले तेरे कुच अब इस समय में सुमेरु पर्वत के साथ स्पर्धा [ईर्षा] करते हैं (अर्थात् अत्यंत पीन और उन्नत स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं—इसमें भी ' सार ' अलंकार है)

---

१ यह 'माल्यभारा' छंद है । २ यह 'प्रहर्षिणी' छंद है ।

कपोलपालीं तव तन्वि मन्ये लावण्यधन्ये दिशमुत्तराख्याम् । आभाति यस्यां ललितालकायां मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः ॥ १० ॥[१]

हे लावण्यधन्ये, तन्वि [कृशाङ्गि] मैं तेरी कपोलपाली को उत्तर दिशा मानता हूं (क्योंकि) उस ललित अलकोंवाली कपोलपाली में श्रवण (कुंडलों) की मनोहर श्री शोभायमान होती है और उत्तर दिशा स्थित अलकापुरी नाम नगरी में वैश्रवण [कुबेर] की मनोहर संपत्ति शोभा पाती है ('ललितालकायां' और 'वैश्रवणस्य' के दो दो अर्थ होने से 'श्लेष' अलंकार हुआ । कपोलपाली को उत्तर दिशि मानने से 'उत्प्रेक्षा' अलंकार की भी संसृष्टि हुई)

नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि प्रकाशमालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः । नैवावरोहति कदापि च मानसान्मे नाभेः प्रभा सरसिजोदरसोदरायाः ॥ ११ ॥

प्रातःकाल में प्रकाश अवलोकन कर शिथिल [ढीली] नीवी (दुकूल ग्रंथि) को नियमित करके शय्या को छोडनेवाली (भामिनी) की, कमल के उदर के समान नाभि की सौंदर्यता मेरे मन से कदापि नहीं उतरती

आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुपा-

---

१ यह 'उपजाति' छंद है ।

**लपंती । आराढुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामि-
नीयां सुषमामयासीत् ॥ १२ ॥**

सखियों के साथ खेलमें निमग्न होने से धीरे धीरे मेरे वचनों को कहनेवाली[1] बाला [नवला स्त्री] दूर से मेरी वाणी को श्रवण करके सौदामिनी [विद्युल्लता]की शोभाको प्राप्त हुई (जैसे दामिनी चमक के तत्काल लोप हो जाती है वैसेही वह कामिनी भी दृष्टिगोचर होते ही कहीं की कही चली गई अर्थात् लज्जावश उस स्थान को तुरंत त्याग स्थानांतर में प्रवेश करती भई)

**मुधैव नक्तं परिकल्प्य गन्तुं मृषैव रोषादुपज-
ल्पतो मे । उदश्रुचंचन्नयना नतांगी गिरं न कां
कामुररीचकार[2] ॥ १३ ॥**

रात्रि में जाने की वृथा कल्पना करके, मुझ, मृषा [झूंठ] रोष के प्रकट करनेवाले की, अश्रुवों से चंचल नयनोंवाली नतांगी (भामिनी) ने कौन कौन बात अंगीकार नहीं की ? अर्थात् जो कुछ कहा सभी किया । तात्पर्य—वियोगके दुःखको परम असह्य मान अश्रुपात करती हुई कामिनी ने उन बातोंका भी करना स्वीकार किया जिन्हें वह पाहिले करनेको सकुचती थी ।

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुवि-

---

१ मेरे वचनोंका अनुकरण करनेवाली अर्थात् जैसामैंभाषण करता था वैसे ही बोलनेवाली । २ 'उपेन्द्रवज्रा' ।

चारजो विवेकः । यदवधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः[1] ॥ १४ ॥

कुशलता और पुराण, शास्त्र तथा स्मृतिके अनेक सुन्दर विचारों से उत्पन्न हुआ विवेक तभी तक है जब तक मृगशावकनयनी (भामिनी) के नेत्र विलास मन में स्थान (प्रवेश) नहीं करते? अर्थात् कामिनी के नयनवाण लगनै से शास्त्र कहीं के कहीं पडे रहते है; उनमें कहीगई मर्यादा का कोई भी पालन नहीं करता)

आगतः पतिरितीरितं जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम्। कौमुदीव शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा[2] ॥ १५ ॥

"(तेरो) पति आगया" इस प्रकार सेहलियों से कहेगए. वचनों को श्रवण करके सविस्मय देहली पै चंद्रिका के समान आई हुई मृगनयनी (भामिनी कब मेरे नेत्रों की शीतल करेगी ?)

अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना। अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव[3] ॥ १६ ॥

संध्याकाल अवधि की वेर गृह की द्वारी (खिड़की)

१ यह 'पुष्पिताग्रा' छंदहै । २ यह 'रथोद्धता' छंद है ।
३ 'मालयभारा' छंद ।

में नयनों को स्थापन करनेवाली रामा (भामिनी स्त्री) उस समय मुझे आता देख हास्यमुखी हुई।

वक्षोजाग्रं पाणिनामृष्य दूरं यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य। शोणाग्राभ्यां भामिनीलोचनाभ्यां जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे[2] ॥ १७ ॥

कुचाग्रभाग को हस्त से मर्दन करके तुरंत दूर चले गए प्रियतमके मुखकमलका, (अपने अरुण नेत्रोंसे सेवन करती हुई) रोषपूरित (भामिनी चुपचाप स्थित रही अर्थात् नेत्र लाल करके उसके मुख की ओर देखती रह गई, कुछ कर न सकी)

गुरुभिः परिवेष्टितापि गंडस्थलकंडूयनचारुकैतवेन। दरदर्शितहेमबाहुनाला मयि बाला नयनांचलं चकार[3] ॥ १८ ॥

गुरूजनों के बीच में बैठीहुई बाला (भामिनी) ने गंडस्थल (कपोल भाग) खुजलनो के मिस से हेमसदृश भुजारूपी नाल का किंचित दरशन देकर मुझे अवलोकन किया (अधिक स्नेह के कारण गुरूजनों के मध्य से भी किसी मिससे प्रियतम को देखा यह भाव)

गुरुमध्यगता मया नतांगी निहता नीरजकोर-

---

१ खिडकी से झांकनेवाली। २ यह 'शालिनि' छंद है।
३ 'माल्यभारा'

केण मंदम् । दरकुंडलतांडवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत्[1] ॥ १९ ॥

गुरुजनों के बीचमें बैठी हुई और कमलकलीसे धीरे मेरी मारी हुई नतांगी [नत हैं अंग जिसके ऐसी] मुझे देख कर्ण कुंडलों को किंचित नचाती और भृकुटि लता को नत (तात्पर्य—टेढी, वंक) करती हुई घूरने लगी।

विनये नयनारूणप्रसाराः प्रणतौ हंत निरन्तराश्रुधाराः॥ अपि जीवितसंशयः प्रयाणे न हि जाने हरिणाक्षि केन तुष्ये[2] ॥ २० ॥

विनय करने सें लोचन लाल हो जाते हैं, प्रणत क्रिया [पैर पडने अथवा हाथ जोडने] में निरंतर अश्रुधारा चलती है, (विदेश) गमन (की बात चलाने) में प्राण (रखने) की भी शंका होती है, (अतएव मैं) नहीं जानता कि (यह) मृगनयनी किस बातसे संतुष्ट होगी ? (हाय यह बडा खेद है)

अकरुण मृषाभाषासिंधो विमुंच ममांचलं तव परिचितः स्नेहः सम्यङ्मयेत्यभिधायिनीम् । अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां क इह भवतीं भद्रे निद्रे विना विनिवेदयेत्[3]॥२१॥

हे निर्दय! असत्यभाषण समुद्र! मेरा अंचल छोड, मैंनें तेरा स्नेह भली भांति जान लिया ऐसा बोलने वाली (और)

---

१ 'माल्यभारा'। २ 'माल्यभारा'। ३ 'हरिणी' छंद है।

संतत अश्रुधारा बरसाने वाली वस्त्रविहीना कृशांगी (भामिनी) को, इस देश अथवा इस स्थल में, हे कल्याणकारिणि निद्रे ! तेरे विना और कौन मेरे स्वाधीन करेगा ? (प्रवासी विरही नायक कि उक्ति है; रात्रि समय स्वप्न में निज प्रिया को देख निद्रा की प्रशंसा करता है और अपने ऊपर उसके महान उपकार मानता है । सत्य है वियोगियों को ऐसी दशा परम सुखकारिणी होती है)

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकाशम् ॥ आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरंद लुब्धालिकिशोरमाला ॥ २२ ॥

(सरोवरके) तीर में तरुणी (भामिनी) के सहास्य मुख और जल में विकसित कमल को अवलोकन कर मूर्ख मकरंदलोभी मधुपकिशोरपंक्ति दोनों ओर धावन करती है (भ्रमर की प्रीत कमल से है परन्तु स्त्री मुख को देख उन्है कमलही का संदेह हुआ इस से इस श्लोक में ' संदेह ' अलंकार जानना)

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी । अंसदेशविनिवेशितां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥ २३ ॥

प्रीतम के हृदयस्थल पै सपत्नी के हार का चिन्ह देख कंठ-

---

१ 'उपजाति' छंद । २ 'रथोद्धता' छंद है । ३ कंधदेश ।

देशमें स्थापन की गई निज बाहुरूपी वल्लरी भामिनीनें तत्काल खींचली (अपना पति अन्य स्त्रीसे स्नेह रखता है यह जान रोष प्रकट किया । इसमें ' खंडिता ' नायिका है)

दरानमत्कंधरबंधमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम् । अनल्पनिश्वासभरालसांगं स्मरामि संगं चिरमंगनायाः ॥ २४ ॥

किंचित नम्र कंधरबंधवाला, कुछ मुँदेहुए सुंदर लोचनरूपी कमलवाला, अधिकश्वासभर से सालस अंगवाला, अंगना [भामिनी] का संग (संयोग) मैं सदैव स्मरण करता हूं (रतिप्रसंग वर्णन है)

रोषावेशान्निर्गतं यामयुग्मादेत्य द्वारं कांचिदाख्यां गृणतम्॥मामाज्ञायैवाययौ कातराक्षी मंदं मंदं मंदिरादिंदिरेव ॥ २५ ॥

रोषावेशके कारण (गृह) से निकल जानेवाले (और) अर्धरात्रि में द्वार पै आय (अपने आपही से) कुछ वार्तालाप करनेवाले मुझको जान, मंदिर [घर] से मंद मंद इंदिरा [लक्ष्मी] के समान भयभीत लोचनी (भामिनी) आई (इसमें ' कलहांतरिता ' नायिका है)

हृदये कृतशैवलानुषंगा मुहुरंगानि यतस्ततः क्षिपंती । प्रियनामपरे मुखे सखीनामतिदिनामियमादधाति दृष्टिम् ॥ २६ ॥

---

१ 'उपेन्द्रवज्रा' । २ कंधा । ३ यह 'शालिनी' छंद है । ४ 'माल्यभारा' ।

हृदय में शैवल [सिवार] का अनुषंग [संपर्क] करने वाली (अर्थात् कलुषित हृदयवाली) और अंगों को बार बार कभी इधर कभी उधर डालनेवाली यह अति दीना (नायिका), निज प्रियतम के नाम को उच्चारण करनेवाली सखियों के मुख को अवलोकन करती है ।

इत एव निजालयं गताया वनितायां गुरुभिः समावृतायाः ॥ परिवर्त्तितकन्धरं नतभ्रु स्मयमानं वदनांबुजं स्मरामि[1] ॥ २७ ॥

यहां से निज गेहको गमन करनेवाली, गुरुजनोंके मध्यस्थित भामिनीका ; फिरी हुई ग्रीवा और नम्र नम्र भ्रकुटीवाला हास्ययुक्त मुखकमल, मैं स्मरण करता हूं ।

कथय कथमिवाशा जायतां जीविते मे मलयभुजगवांता वांति वाताः कृतांताः । अयमपि खलु गुंजन्मंजु माकंदमौलौ चुलुकयति मदीयां चेतनां चंचरीकः[2] ॥ २८ ॥

[3]कहिए मेरे जीवनकी क्या आशा है? (उधर) मलयाचलसे सर्पोंकी उगलीहुई कालके समान वायु बहती है (इधर) आम्र पै मंजु गुंजार करने वाले मधुकर मेरे चित्तको हरण करते है ?

निरुध्य यांतीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य

१ 'माल्यभारा' । २ 'मालिनी' । ३ विरही की उक्ति है ।

पुरो दधाने । मयि स्मितार्द्रं वदनारविंदं सा मंदमदं नमयांबभूव[1] ॥ २९ ॥

हठ से [अथवा वेग से] जानेवाली (अर्थात् प्रसंग की इच्छा न रखनेवाली) कपोती को रोक कर शब्द करने वाले (रत्युत्सुक) कपोत के सन्मुख लानेवाले मुझे देख प्रियतमाने मुसुकुराते हुए वदनकमलको लज्जासे धीरेधीरे नीचा किया ।

तिमिरं हरंति हरितां पुरःस्थिता तिरयंति तापमथ तापशालिनाम् ॥ वदनात्विषस्तवचकोर लोचने परिमुद्रयंति सरसीरुहश्रियः[2] ॥ ३० ॥

हे चकोर के समान नयनोंवाली (भामिनी)! तेरी वदन कांति, दिशाओंमें व्याप्त हुए अंधकार को नाश करती है, संतप्त मनुष्यों की शोभा को आच्छादित करती है (तेरा मुख चंद्रमाहीं है यह भाव)

कुचकलशयुगांतर्मामकीनं नखांकं सपुलकतनु मंदं मंदमालोकमाना । विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे चकिततनु नतांगी सद्म सद्यो विवेश ॥ ३१ ॥

(सुवर्ण) कलश [घट] के समान दोनौं कुचौंके मध्य में मेरे किये हुए नखौंको पुलकित होती हुई धीरे धीरे अवलोकन करने वाली चकितगात्री नतांगी (नम्र है अंग जिसका

---

१ 'उपजाति' । २ यह 'मंजुभाषिणी' छंद है ।

ऐसी) बालाने खिडकीमें मुख रखेहुए मुझे देख शीघ्रतासे घरमें प्रवेश किया।

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना। तन्वी तदानीमतुलां बलारेः साम्राज्यलक्ष्मीमधरीचकार[1] ॥ ३२ ॥

हृदय में शयन करनेवाली कृषांगी (भामिनी) ने मेरे मुखके अनुकूल (अर्थात् जैसा चाहिये वैसा मुखके ऊपर) कपोलमूल [चिबुक] को स्थापन कर उस समयमें देवेन्द्र की अतुल राज्य संपत्तिके सुखको (भी) तिरस्कार किया (सुरेशवैभवसंजात सुखसे इस सुखको अधिक माना यह भाव)

मुहुरर्थितयाद्य निद्रया मे बत यामे चरमे निवेदितायाः। चिबुकं सुदृशो स्पृशामि यावन् मयि तावन्मिहिरोऽपि निर्दयोऽभूत्[2] ॥ ३३ ॥

वारंवार प्रार्थना की गई निद्रा से आज चतुर्थ प्रहर में सनिवेदन लाईगई सुलोचना (भामिनी) की चिबुक को जब तक मै स्पर्श करूं तब तक (दैव तो हई है पै) सूर्य भी मेरे हेत निरदई हुआ (विरही नायक की उक्ति है; तीन प्रहर वियोगव्यथा में बिताय चतुर्थ प्रहर में निज प्रियतमा को स्वप्न में देख ज्योंही चिबुक पै हाथ लेगया त्योंही सूर्योदय हुआ अतएव अग्रकार्य असमाप्तही रहा)

---

१ 'उपजाति'। २ 'माल्यभारा' छंद।

श्रुतिशतमपि भूयः शीलितं भारतं वा विरचयति तथा नो हंत संतापशांतिम् । अपि सपदि यथायं केलिविश्रांतकांता वदनकमलवल्गत्-कांतिसान्द्रो नकारः ॥ ३४ ॥

केलि से श्रमित कांता के वदनकमल से निकलाहुआ यह रसमय 'नकार' [न, न, कहना] शीघ्रही संताप का जैसा शांत करता है वैसा अनेक बार सैकडों श्रुतियौं तथा भारत (इत्यादि) पुराणें का परिशीलन नही ! ('न', 'न', कहना तो इतना सुखकर है यदि वह ' हँ ' कहै तो नजानैं कितना सुख होगा ! मूल में ' अपि ' शब्द के प्रयोग से यह भाव ध्वनित होता है)

लवलीं तव लीलया कपोले कवलीकुर्वति कोमलत्विषा । परिपांडुरपुंडरीकखंडे परिपेतुः परितो महाभयः[1] ॥ ३५ ॥

(हे भामिनि !) तेरे कपोलकी लीलायुक्त कोमलकांतिने लवली[2] नामक लता की शोभाको हरण कर अत्यंत शुभ्र कमलसमूहको सर्व ओरसे महान् भय उत्पन्न किया है (लवलीकी शोभाको ग्रास करके अब हमारी भी वही दशा करैगी इससे कमल भयभीत हुए यह भाव)

---

१ इसे यक प्रकारकी 'उपजाति' छंद कहना चाहिये; इसमें 'वैतालीय' और 'औपच्छंदासिक' का संकरहै । १ लवली एक प्रकारकी लताहै; उसके और कपोलके रंगकी समता दी जाती है।

यौवनोद्गमनितांतशंकिताः शीलशौर्यबलकांतिलोभिताः । संकुचंति विकसंति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः ॥ ३६ ॥[1]

युवावस्थाके उद्गम से अत्यंत सशंक, शील, पराक्रम, (बाहु) बल और (शरीर) कांतिकी लोभी; जानकीके कमलनयनोंकी शोभा, राघवके विषय में सकुची और आनंदित भी हुई (तरुण होनेसे लज्जित हुई परंतु रामचन्द्रके बल, शील, सुंदरता इत्यादिकके कारण प्रसन्न हुई यह भाव)

अधिरोप्य हरस्य हंत चापं परितापं प्रशमय्य बांधवानाम् । परिणेष्यति वा न वा युवायं निरपायं मिथिलाधिनाथपुत्रीम्[2] ॥ ३७ ॥

यह युवा (रामचंद्र,) शंकर के चाप को चढाय, बंधुजनों के परिताप को शमनकर, मिथिलापतिपुत्री (जानकी) का निर्विघ्न पाणिग्रहण करैगा अथवा नही ! (यह जनकपुरवासियों की उक्ति है)

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण रहसि वधूः । तत्कालजालपतिता बालकुरंगीव वेपते नितराम् ॥ ३८ ॥

एकांतस्थल में पति से आलिंगन कीगई नवविवाहिता [नवोढा] नायिका, तत्काल जाल में फंसीहुई बालमृगी के समान अत्यंत कंपित होती है ।

---

१ 'रथोद्धता छंद' । २ 'माल्यभारा' ।

उपनिषधः परिपीता गीताापि च हंत मतिपथं नीता । तदपि न हा विधुवदना मानससदना-द्बहिर्याति ॥ ३९ ॥

उपनिषधोंको पान (अर्थात् श्रवण) किया और भग-वद्गीताको मतिके मार्गको पहुंचाया अर्थात् उसका भी भली भांति परिशीलन किया; परंतु हाय, इतना करने पै भी यह चंद्रवदनी (भामिनी) मेरे मन रूपी गेहसे बाहर नहीं जाती? (गीतादिक से मनुष्यको ज्ञान उत्पन्न होता है और विषय वासना छूट जाती है परन्तु मेरा अनुराग अधिकाधिक बढ़ताही जाता है यह भाव)

अकरुणहृदय प्रियतम मुंचामि त्वामितः परं नाहम् । इत्यालपति करांबुजमादायाली जन-स्य विकला सा ॥ ४० ॥

" हे निर्दय प्रियतम अब आज से मैं तुम्हें न छोडूंगी (अर्थात् फिर विदेश न गमन करने दूंगी) " इस प्रकार वह व्याकुलनायिका सखी के करकमल को पकडकर कहती है (नायिका का संदेश लेकर विदेशवासी[१] नायक के प्रति यह दूती का वचन है बिरह से नायिका को उन्माद उत्पन्न हुआ है इससे वह सखियों कोही पति समुझ इस प्रकार की बातें कहती है यह भाव—नायिका की ऐसी दशा वर्णन करके शीघ्र ही उसे मिलिए यह सूचित किया)

---

१ 'प्रोषितपतिका' नायका ।

लोभाद्वराटिकानां विक्रेतुं तक्रमविरतमट-न्त्या । लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्र-नीलमणिः ॥ ४१ ॥

कौड़ीके लोभसे मही बेंचनेके लिए निरंतर फिरनेवाली गोपकीशोरी ने मार्गमें परम श्रेष्ठ नीलमणि पाई ! (इसमें एक तो यह भाव निकलता है कि तक्र बेचनेवाली गोप सुता राधिकाको श्रीकृष्ण अनायास मिले; दूसरा यह कि, अल्प धनके हेत महान परिश्रम करने सें अप्राप्य वस्तु भी प्राप्त होती है । थोडे पदार्थकी इच्छा करनेमें बहुत लाभ होना 'प्रहर्षणे' अलंकारका लक्षण है)

रूपारुचिं निरसितुं रसयन्त्या हरिमुखस्य ला-वण्यम् । सुदृशः शिवशिव सकले जाता स-कलेवरे जगत्यरुचिः ॥ ४२ ॥

(जैसा मेरा रूप रुचिर है वैसा और किसीका नहीं इस प्रकारके गर्वसे जगतमें मनुष्यजातिकी सौंदर्यतासे घृणा उत्पन्न हुई है जिसे उस), स्वरूप की अरुचिको दूर करनेके लिए श्रीकृष्णके मुखकी लावण्यका स्वाद लेने वाली सुलोचनी को शिव, शिव अपनें शरीरकें सहित संपूर्ण जगत् में अरुचि उत्पन्न हुई अर्थात् कृष्ण मुझ से भी विशेष सुन्दर है यह जान वैराग्यका अंकुर जमा ।

प्राणापहरणेनासि तुल्यो हालाहलेन मे । शशांक केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः ॥ ४३ ॥

हे चंद्रमा ! मेरे प्राण लेने में तू हलाहल [विष] के समान है; (भला फिर तुझे) सुधांशु [अमृत है किरण में जिसके ऐसा] किस मूर्ख ने कहा अर्थात् नाम दिया (यह विरही की उक्ति है)

किं जल्पसि मुग्धतया हंत ममांगं सुवर्णवर्ण-
मिति । तप्यति पतति हुताशे तदा हताशे
तुलां तवारोहेत् ॥ ४४ ॥

मेरे अंग का वर्ण सुवर्ण के समान है इस प्रकार मूढ़ता से सहर्ष तू क्या कहती है ? हे हताशे[1] ! सुवर्ण जब अग्नि में (तपाने के हेतु) डाला जाता है तब तेरी तुलना [उपमा] को प्राप्त होता है। (तेरे अंगका रंग सुवर्ण से श्रेष्ठ है क्योंकि जबतक सुवर्ण अग्नि की कठोर आंचैं नहीं सहता तब तक तेरी समता को नहीं पाता यह भाव । यहां सुवर्ण जो उपमान उसका नायिका का अंग जो उपमेय उससे अनादर होने से 'प्रतीप' अलंकार हुआ)

औत्सुक्यात्परिमिलतां त्रपया संकोचमंचतां
च मुहुः ॥ नवसंगमयोर्यूनोर्नयनानामुत्सवो ज-
यति ॥ ४५ ॥

उत्सुकता संयुक्त और वारंवार लज्जासे संकोचको प्राप्त, नूतन प्रसंग समयमें दंपत्यके नेत्रौंका उत्सव जय पावै !

---

१ नाशहुई है आशा जिसकी ।

गरिमाणमर्पयित्वा लघिमानं कुचतटात्कुरंग-
दृशाम् । स्वीकुर्वते नमस्ते यूनां धैर्याय निर्वि-
वेकाय ॥ ४६ ॥

गुरुताको देकर मृगनयनीके कुचप्रांतसे लघुत्वको स्वीकार करनेवाले तरुणपुरुषोंके अविवेकी धैर्यको नमस्कार है! (इसमें 'परिवृत्ति' अलंकार है, जहां बहुत देने से भी कम प्राप्ति है वहां यह अलंकार होता है)

न्यंचति वयसि प्रथमे समुदंचति तरुणिमनि
तदा सुदृशः । दधति स्म मधुरिमाणं वाचो
गतयश्च विभ्रमाश्च भृशम् ॥ ४७ ॥

सुलोचनी (भामिनी) की बाल्यावस्थाके गमन और तारुण्यताके आगमन समयमें वाणी, गति और विलास परम माधुर्य्यताको प्राप्त होते हैं ।

निस्सीमशोभासौभाग्यं नतांग्या नयनद्वयम् ।
अन्योन्यालोकनानंदविरहादिव चंचलम् ॥४८॥

जिनकी शोभा के सौभाग्य की सीमा हीं नहीं ऐसे, नत-गात्री (नायिका) के युगुलनयन, मानौं एक दूसरे को न देख सकने के कारण चंचल हो रहे हैं (नयनों के चंचल होने का कारण परस्परावलोकन का विरह कहा इससे 'उत्प्रेक्षा' अलंकार हुआ)

गुरुमध्ये हरिणाक्षी मार्तिकशकलैर्निहंतुकामं माम् । रदयंत्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयांचक्रे ॥ ४९ ॥

मृत्तिकाके ढेले से मारनेकी इच्छा करने वाले मुझे, गुरुजनोंके मध्यमें मृगनयनीनें जिह्वाग्रको दांतोंसे दबाय और आंखोंको तरलित करके, निवारण किया ।

नयनांचलावमर्शं या न कदाचित्पुरा सेहे । आलिंगितापि जोषं तस्थौ सा गंतुकेन दयितेन ॥५०॥

जिस नायिका ने पहिले नेत्रकटाक्ष को भी कभी न सहन किया वह विदेश जाने की इच्छा रखनेवाले प्रियतम से आलिंगन कीगई भी संतुष्ट स्थित रही ('प्रवस्यत पतिका' नायिका है)

मानपराग्वदनापि प्रिया शयानेव दयितकरकमले । उद्वेल्लद्भुजमलसग्रीवाबंधं कपोलमाधत्ते ॥ ५१ ॥

मानसे पराङ्मुखहुई नायिका निद्राके मिषसे प्रियतमके करकमलमें, हस्तको ऊंचा और ग्रीवाबंधको शिथिल करती हुई, कपोलको स्थापन करती है ।

लोचनफुल्लांभोजद्वयलोभांदोलितैकमनाः शुभ्रे । कस्तूरीतिलकामिषादयमलिकेऽलिस्तवोल्लसति ॥ ५२ ॥

हे शुभांगि ! लोचनरूपी प्रफुलित युगुल अंभोज का लोभी चंचलचित्तवाला भ्रमर, कस्तूरीतिलक के मिष से, तेरे

ललाट में शोभायमान है (कस्तूरीतिलक के यथार्थ गुण को गोपन कर उसको भ्रमर मानने से 'अपन्हुति' अलंकार हुआ)

अधिरजनि प्रियसविधे कथमपि संवेशिता ब-
लाद्गुरुभिः । किं भवितेति सशंकं पंकजनयना
परामृशति ॥ ९३ ॥

रात्रि समय बल से प्रियतमके समीप गुरुजनोंसे जैसे तैसे प्रवेशकी गई कमलनयनी ' क्या होगा ' इस प्रकार सशंक होकर (मनमें) विचारती है (' नवोढ़ा ' नायिका है)

चिंतामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीन-
प्रभाः प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां स-
मस्ता कथा ॥ एतत्त्वां विनिवेदयामि मम चेदु-
क्तिं हितां मन्यसे मुग्धे मा कुरु मानमाननमिदं
राकापतिर्जेष्यति ॥ ९४ ॥

हे मुग्धे ! (मान करने से) मनसिज म्लान हो जावैगा, सखियां तेजहीन हो जावैंगी, और यह (तेरा) प्राणपति प्रेमाकुल हो जावैगा, (इस कारण से) इन वातों को रहने दे; तेरे प्रति निवेदन किएगए मेरे इस हितोपदेश को मान, मान न कर (क्योंकि ऐसी शिक्षा को न सुनने से तेरे) मुख को चंद्रमा जीत लेवेगा । (नायक से न मिलने से तुझे विरह वेदना सहनी पड़ैगी और उस समय में चंद्रमा तुझे दुखदाई होगा अथवा तेरा आनन अभी निष्कलंक है परंतु उदासी-

नता के कारण कलंकित हो जावैगा और तब चंद्र की सादृश्यको प्राप्त होवैगा यह भाव)

अलंकर्तुं कर्णौ भृशमनुभवंत्या नवरुजं ससीत्कारं तिर्यग्वलितवदनाया मृगदृशः । कराब्जव्यापारानतिसुकृतसारान् रसयतो जनुः सर्वं श्लाघ्यं जयति ललितोत्तंस भवतः ॥ ९५ ॥

हे मनोहर कर्णकुंडल! (तुझे) श्रवणमें धारण करनेके समय सीत्कार [सिसकना] करते हुए नूतनोत्पन्न व्याधि को भले प्रकार अनुभव, (तथा) मुखको तिर्यक्[1] करनेवाली सुलोचनी (नायिका) के महत्सुकृती करकमलके व्यापारों को तुझ स्वाद लेने वालेका जन्म प्रशंसनीय है! (कर्णछेदन में नायिका जो जो व्यापार करती है सो सो ओष्ठ दंशन समयमें भी करती है इस से प्रस्तुत कर्णकुंडल वृत्तांत अप्रस्तुत अधरखंड करनेवाले पुरुषके वृत्तांत में मिलनेसे ' समासोक्ति ' अलंकार हुआ)

आयातैव निशा निशापतिकरैः कीर्णं दिशामंतरं भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरंगान्यलंकुर्वते । मुग्धे मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते हा हा बालमृणालतोऽप्यतितरां तन्वी तनुस्ताम्यति ॥ ९६ ॥

---

१ वक्र–टेढा ।

हे मुग्धे ! रात्रि आई; निशाकर की किरणें दिशाओं में फैल गईं; स्त्रियां (अपने अपने) घरौं में आभूषणौं से अंगोंको अलंकृत करनेलगीं! (ऐसे समय में जो) अब भी तू मान को कुछ कम न करैगी तो रोष से हाय ! हाय ! यह तेरा बाल मृणालसे भी अतिशय कृश शरीर संतप्त हो जावैगा !

वाचो मांगलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने केलीमंदिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्राम्बुजा। निःश्वासग्लपिताधरं परिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा बाला लोलविलोचना शिव शिव प्राणेशमालोकते ॥ ९७ ॥

(जिस समय) मनुष्य अनेक प्रकारके मंगलकारक शब्द उच्चारण कर रहे है उस (प्रियतम के विदेश) गमन करने की वेला, केलिमंदिरके झरोखेमें कमलरूपी मुखको स्थापन करनेवाली, गिरते हुए अश्रुवोंसे भींगे हुए कुचौंवाली, चंचलनयनी बाला श्वासोच्छ्वास से ओठौंको कंपित करती हुई शिव, शिव, प्राणपतिको अवलोकन करती है ! (यह ' प्रवस्यत्पतिका ' नायिका है)

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां सहचरि दैववशेन दूरतोऽभूत् । तदवधि शिथिलीकृतो मदीयैरथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु[1] ॥ ९८ ॥

---

१ 'पुष्पिताग्रा' छंद है ।

हे सखी ! ज्योंहि प्रियतम दैवयोगात् नयनों से दूर हुआ त्योंहीं प्रेमवशात् मेरी इन्द्रियां अपनी अपनी क्रिया में शिथिल अर्थात् जड़ हुईं । नयनों ने देखना, श्रवणों ने सुनना, हाथौं ने स्पर्श करना त्यागा यह भाव । ('प्रवस्यत्पतिका' नायिका है)

निखिलां रजनीं प्रियेण दूरादुपयातेन विबोधिता कथाभिः । अधिकं न हि पारयामि वक्तुं सखि मा जल्प तवायसी रसज्ञा[१] ॥ ८९ ॥

दूर देश से आएहुए प्रियतम के सारी रात्रि वार्तालाप करने से मुझ जगीहुई को अब अधिक भाषण करने की शक्ति नहीं; इससे, हे सखि ! तू (वृथा) मत जल्पना करै, तेरी रसना [जिव्हा] तो लोहकी है ('आगतपतिका' नायिका है)

निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचांचल्यतारकम् । कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥ ९० ॥

गिरतेहुए अश्रुओंके रोध से चंचलताहीन तारौंवाले मृगनयनी के नयनरूपी नीलकमल मैं[२] कब अवलोकन करूंगा

यदि लक्ष्मण सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति । अमुना जड़जीवितेन मे जगता वा विफलेन किं फलम्[१] ॥ ९१ ॥

---

१ 'माल्यभारा'छंद । २ 'प्रोषित' नायक । ३ 'वैतालीय' छंद है ।

हे लक्ष्मण ! यदि वह कुरंगनयनी (सीता) मेरे दृष्टिपथ को न प्राप्त होगी तो मेरे इस जडजीवन तथा निष्फल जगत से क्या फल है? (लक्ष्मण के प्रति यह रामचंद्र का वचन है)

भवनं करुणावती विशंती गमनाज्ञालवलाभ-
लालसेषु । तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ
बाला पथि पातयांबभूव ॥ ६२ ॥

गृहमें प्रवेश करनेवाली करुणावती बालाने मार्गमें, गमनार्थ आज्ञारूपी लाभके लोभी युवा पुरुषोंके ऊपर नेत्ररूपी कमलमालाको ड़ाला अर्थात् उनकी ओर अवलोकन किया (बाहर से घर आनेवाली नायिकाने अपने अनुगामी पुरुषों पै दया करके अवलोकन मात्र से उन्है लौटनेकी आज्ञा दी यह भाव—इसमें ' कुलटा ' नायिका है)

पापं हंत मया हतेन विहितं सीतापि यद्यापि-
ता सा मामिंदुमुखी विना बत वने किं जीवितं
धास्यति । आलोकेय कथं मुखं सुकृतिनां
किं ते वदिष्यंति मां राज्यं यातु रसातलं पु-
नरिदं न प्राणितुं कामये ॥ ६३ ॥

मुझ हतभाग्य ने महत्पाप किया जो सीताको (वन में) भेजा; हाय ! वह इन्दुमुखी विना मेरे कानन में किस प्रकार जीवन धारण करैगी ? मैं महाजनौंका मुख कैसे देखूंगा

१ 'माल्यभारा' ।

(और)वे मुझे क्या कहेंगे? (अब इस समयमें)राज्य(चाहे) पातालको जाय (परंतु शरीरको) सप्राण रखना उचित नहीं ! (इसमें शोक, विषाद, शंका इत्यादिककी संसृष्टि से विशेष चमत्कार भासित होता है)

उषसि प्रतिपक्षकामिनी सदनादंतिकमंचति प्रिये । सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वर-याऽरुणद्युतिः ॥ ६४ ॥

प्रातःकाल सपत्नी के घर से आएहुए प्रियतम को स्वसन्निध (देख) सुनैनी (भामिनी) के नयनरूपी कमलों के कोण शीघ्रही अरुणता को प्राप्त हुए (रोष से लाल नेत्र हुए यह भाव इसमें ' खंडिता ' नायिका है)

क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति प्रिये । शेमुः सरोजनयनानयनारुणकांतयः ॥ ६५ ॥

क्षमापन के स्थान चरणों में प्रियतम के गिरने से कमलनयनी (नायिका) के नयनों की अरुणता शांत हुई (रोष गया यह भाव)

निर्वासयंती धृतिमंगनानां शोभां हरेरेणदृशो धयंत्याः । चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव[2] ॥ ६६ ॥

स्त्रियों के धैर्य को दूर करनेवाली जो सिंह की शोभा

---

१ 'वैतालीय' छंद । २ 'उपजाति' अर्थात् 'इंन्द्रवज्रा' और 'उपेन्द्रवजा' का संकर ।

उसको धारण करनेवाली कुरंगनयनी (नायिका) का, चिर-काल अपराध के स्मरण होने से (उत्पन्न हुआ) महान रोष, शीघ्रही नष्ट हुआ (नायिक के विनीत वचनौं को सुन और उसे निज चरण पलोटते देख नायिका का मान शांत हुआ यह भाव)

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम् । बाले वारय पांथस्य वासदानविधानतः ॥ ६७॥

हे बाले! राजाके प्रतिकूल होनेके कारण मुझ पथिकके उपस्थित होनेवाले महान भयको, (अपने) गृह में वासस्थान का दान देकर, निवारण कर (' राज ' शब्द द्व्यर्थिक है) क्योंकि ' राज ' चंद्रमाको भी कहते हैं; चन्द्र, विरहीजनों को दुखद होता है इससे इस श्लोक में यह भाव निकलता है कि अपने घर में मुझे स्थान दे मेरी कामव्यथाको शांत कर; कारण, चंद्रमा सहन होनेकी यही एकमात्र औषधि है)

मलयानिलमनलीयाति मणिभवने काननीयाति क्षणतः। विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ॥ ६८ ॥

विरह (वेदना) से विकलहृदयवाली कामिनी, मलया-चल संबंधिनी पवनको अनल और मणिमय भवनको वन मान, जलविहीनमीनके समान आचरण करती है।

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नित-

राम् । अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं
किलामनुत ॥ ६९ ॥

वह (विरहव्याकुला) बाला, कालागरु चंदन के रस- को निपट हलाहल [विष] जान, नीलकमल की माला को भी ठीक ठीक व्याल [सर्प] पंक्ति समुझती है । (कालागरु का पंक और विष, तथा नीलोत्पलमाला और व्याल एकही रंग के होते हैं इससे सहजही भ्रमोत्पादक है, फिर वियोगज- नित दुःख से संतप्तजनों को विपरीत क्यों न दिखाई देंगे ? उनको तो इन शांतिकारक पदार्थों से अधिकाधिक कष्ट होता है)

विधिवंचितया मया न यातं सखि संकेतनिकेतनं
प्रियस्य । अधुना बत किं विधातुकामो मयि
कामो नृपतिः पुनर्न जाने ॥ ७० ॥

हे सखि ! मैं हतभागिनी प्रियतमके संकेतस्थानको न गई; हाय (इस कारण) मदन महीप न जानैं मुझे क्या करैगा ? (मनोजराजके आज्ञानुसार मैं प्रियकी सहेटको न गई अतएव वचन उलंघन करनेके अपराध में मुझको महान दंड मिलैगा यह भाव)

विरहेण विकलहृदया विलपंती दयित दयि-
तेति । आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव
वीक्षते बाला ॥ ७१ ॥

---

१ 'माल्यभारा' छंदहै ।

वियोगसे विकलहृदयवाली, 'हे प्रिय', 'हे प्रिय', इस प्रकार विलापकरनेवाली, बाला स्वसंनिकटभागमें भी आए हुए नायकको अपरिचित [अजान] की भांति देखती है (अधिक विरहव्यथाके कारण मोह उत्पन्न होनेसे स्मरण शक्ति जाती रही, इस हेतु यद्यपि वह प्रियतम के नामसे वारंवार विलाप करती थी तद्यपि पास आने से भी वह उसे पहिचाननेको समर्थ नहीं हुई)

दारिद्र्यं भजते कलानिधिरयं राकाऽधुना म्ला-
यति स्वैरं कैरवकाननेषु परितो मालिन्यमुन्मी-
लति । द्योतंते हरिदंतराणि सुहृदां वृंदं समानं-
दति त्वं चेदंचासि कांचनाङ्गि वदनांभोजे वि-
कासश्रियम् ॥ ७२ ॥

हे सुवर्णवर्णे ! यदि तू अपने वदनकमल में विकास की शोभा को धारण करैगी (अर्थात् मुख को विकसित सहास्य करेगी) तो इस समय में यह चंद्रमा तुच्छ हो जावेगा, पौर्णिमा की रात्रि म्लानत्व को धारण करैगी, कुमुदवन में सर्व ओर यथेष्ट संकोच उत्पन्न होगा, दिगंत प्रकाशित होंगे (और) हितूजन आनंद पावैं गे ('मानिनी' नायिका प्रति सखी की उक्ति है । मान त्याग करने से इतनी श्रेयस्कर बातैं होंगी यह सूचित करती है । मुखरूपी कमल के विकसने से सूर्योदय हुआ यह जान उपरोक्त पदार्थों के यथायोग्य व्यापार होने लगैं गे यह भाव)

पाटीरद्रुभुजंगपुंगवमुखायाता इवातापिनो वाता
वांति दहंति लोचनममी ताम्रा रसालद्रुमाः ।
एते हंत किरंति कूजितमयं हालाहलं कोकिला
बाला बालमृणालकोमलतनुः प्राणान् कथं
रक्षतु ॥ ७३ ॥

चंदन वृक्ष संबंधी बडे बडे सर्पोंके मुख से निकली हुई वायु के समान संतप्त समीर चलती है, आरक्तवर्णपल्लव-युक्त आम्रद्रुम नेत्रौंको दहन करते हैं, कोकिलाकी वाणी विष (सा) बरसाती है, हाय! (फिर) नूतनोत्पन्नमृणाल के समान कोमल अंगवाली बाला किस प्रकार प्राणकी रक्षा करैगी? (वसंत आगम मे विरहणी की जो दशा होती है उसका वर्णन है। एक साथ अनेक भाव दरसाने से ' समुच्चय, अलंकार हुआ)

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्व-
ती मानो मे कथमेष संप्रति निरातंकं हृदि
स्थास्यति। ऊहापोहमिमं सरोजनयना याव-
द्विधत्तेतरां तावत्कामनृपातपत्रसुषमं बिंबं
बभासे विधोः ॥ ७४ ॥

मृगलोचनियों के मन में उन्निद्रता[1] को विस्तार करनेवाली रात्रि आगई, अब यह मेरा मान हृदय में निशंक होकर कैसे

१ नींद के न आने के भाव को।

रहैगा ? इस प्रकार के तर्क वितर्क जबतक कमलनयनी कर-ती है तब तक मैनमहीप के छत्र की शोभा (को धारण करने) वाले चन्द्रमा का बिंब उदित हुआ (नायिका सशंक होही रही थी कि रात्रि में कामातुर होकर रोष त्यागि मुझे नायक के निकट जानाहोगा कि चंद्र बिंब ने दर्शन दे मान छुडाने में सहायता दी । इस में 'समाधि' अलंकार है; 'समाधि' अलंकार उसे कहते हैं जहां किसी कारण से कार्य सुगम होजाता है)

प्रभातसमयप्रभां प्रणयिनिन्हुवानां रसादमुष्य
निजपाणिना दृशममीलयं लीलया । अयं तु
खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरै रवेरुदयमध्य-
गादधिकचारु तैर्मारुतैः ॥ ७८ ॥

प्रातःकालकी शोभा (अर्थात् अरुणोदय) को प्रिय-मतसे छिपानेके लिए अनुरागवश मैंनें कुतूहल से उसके नय-नोंको अपनें हाथों से आच्छादित किया, परंतु कमलिनीके सौरभसमूहको हरण करनेवाले परमोत्कृष्ट पवन ने सूर्योदय का बोध कराया (रविके निकल आने से नायक ने सेज त्यागी और नायिका का इच्छित कार्य जिसके अर्थ वह दिनकी रात्रि करनेको प्रयत्न करती थी न हुआ । विपरीत फलप्राप्ति से इसमें 'विषम' अलंकार जानना)

---

१ 'पृथ्वी' छंद है ।

विदूरादाश्चर्यस्तिमितमथ किंचित् परिचया-
दुदंचच्चांचल्यं तदनुपरितः स्फारितरुचि । गु-
रूणां संघाते सपदि मयि याते समजनि त्रपाघूर्ण-
त्तारं नयनमिह सारंगजदृशः ॥ ७६ ॥

इस स्थलके मध्य गुरुजनोंके बीच में अकस्मात् मेरे जाने से मृगशावकनयनीके नयन (मुझे) दूर से देख स्तब्ध, (निकट आने से) इसे कुछ कुछ पहिचानते हैं यह समुझ चंचल तदनंतर (अधिक समीप भाग में प्राप्त होने से) परम दीप्तिमान, (और अत्यंत पार्श्ववर्ती होने से) लज्जाके कारण संभ्रमित तारों[1]वाले हुए (जिस स्थान में देवपूजनार्थ अथवा अपर किसी कारणसे नायिका गई वहीं उसका चिरकाल प्रोषित पति भी मिला—उसे देख नायिकाके नयनों की जो दशा हुई उसका वर्णन नायिक अपने मित्र से करता है)

कपोलावुन्मीलन्नवपुलकपाली मयि मनाङ्मृ-
शत्यंतःस्मेरस्तबकितमुखांभोरुहरुचः । कथं
कारं शक्याः परिगदितुमिंदीवरदृशो दलद्राक्षा-
निर्यद्रसभरसपक्षा भणितयः ॥ ७७ ॥

उत्पन्न हुई है नूतन पुलक जिनमें ऐसे (नायिका के) कपोल मुझ से किंचितमात्र छुए जानेपर मनहीं मन की मुसकानि से पुष्पगुच्छ के समान होनेवाले मुखरूपी कमल की कांतिवाली सरोजनयनी के, दलित होनेवाले द्राक्षसे निकले

१ आंख की पुतली।

हुए रससमूह के तुल्य (मीठे) वचन वरणन किये जाने को किस प्रकार समर्थ हैं ?

राजानं जनयांबभूव सहसा जैवातृक त्वां तु यः सोऽयं कुंठितसर्वशक्तिनिकरो जातो जरार्त्तो विधिः । संप्रत्युन्मदखंजरीटनयनावक्राय नित्य श्रिये दाता राज्यमखंडमस्य जगतो धाता नवो मन्मथः ॥ ७८ ॥

हे चंद्र! जिस ब्रह्माने विना विचारे तुझे राजकीय पदवी को पहुंचाया अब वृद्धता के कारण उसकी सर्वशक्ति जाती रही; इस समय में तो मन्मथरूपी नूतन ब्रह्मा ने उन्मत्त खंजन के समान नयनोंवाली (नायिका) के नित्यशोभायमान मुख को इस जगतका अखंड राज्य प्रदान किया है (चंद्रमासे कोई कहता है कि तुझ से कामिनी का मुख अधिक शोभायमान है । अत्यंत सौंदर्यताके कारण यह संसारको जीतेगा यह भाव)

आविर्भूता यदवधि मधुस्यंदिनी नंदसूनोः कांतिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा । श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पांडिमा गंडमूले शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥ ७९ ॥

समस्त नयनों को (अपनी ओर) आकर्षण करनेवाली मधुरता को टपकानेवाली, परम कुशला ऐसी नंदनंदनकी अवर्णनीय कांति ज्योंहीं प्रकटी त्योंहीं कुलकानि को पालन

करने वाली मृगलोचनियों के मुखमें दीर्घ श्वास, कपोलों में पियराई (और) मन में शून्यकार वृत्ति उत्पन्न हुई।

प्रसंगे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपतेरुपा-
कर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः। विष-
ज्वालाजालं झटिति वमतः पन्नगपतेः फणायां
साश्चर्यं कथयतितरां तांडवविधिम् ॥ ८० ॥

प्रसंग (विशेष) में, वृद्धगोपालोंके बीच, यदुपतिकी महिमाको श्रवण करके, प्रस्वेद युक्तपुलकितकपोलवाली कुलवधू, विषज्वालाके समूहको बडे वेग से वमन करनेवाले सर्पराज [काली] के फणोंका नृत्यविधि आश्चर्य से कहती है (प्रियतम की महिमा सुनने से नायिकाको परम हर्ष हुआ परंतु गुरुजनोंसे उसका प्रकट करना उचित न जान कालिय मर्दनकी कथा कह कर अपने अंतर्गत भावको दुराया)

कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्त-
नावागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्या-
ज्ञया। आस्ये पूर्णशशांकता नयनयोस्तादा-
त्म्यमंभोरुहां किंचासीदमृतस्य भेदविगमः
साचिस्मिते तात्त्विकः ॥ ८१ ॥

बाल्यावस्था में कृशता को प्राप्त होने वाले अखिलेश्वर रतिपति के तन्वी [कृषांगी] के शरीरमें क्रम क्रम से प्रवेश होने से शीघ्रही उस (रतिपति) की आज्ञासे (नायिका

के) मुखमें पूर्णचंद्रबिंब की आभा, नेत्रों में कमल की सादृश्य और मंदमुसुकानि में भेदरहित यथार्थ अमृत की उत्पत्ति हुई (मदन के संचार होनेसे ऐसे व्यापार होते हैं यह प्रकटही है)

**शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखे-
व । प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुर-
वीक्षणैरेव ॥ ८२ ॥**

शोभामात्र शेष है जिसकी ऐसी (प्रतिपदाकी) नूतन उदित हुई इन्दुरेखाके समान, सिवारकी सेज पै शयन करने वाली (नायिका), पार्श्वभाग में भी आएहुए प्रियतमका मधुर दृष्टिही से सत्कार करती है (अत्यंत विरहजन्यदुःख के कारण उठने बैठनेकी शक्ति जाने और प्राणमात्र शेष रहनेसे प्रियकरकी ओर केवल दृष्टिपातही कर सकी और दूसरे व्यापार नहीं; यह भाव)

**अधरद्युतिरस्तपल्लवा मुखशोभा शशिकांतिलं-
घिनी । तनुरप्रतिमा च सुभ्रुवो न विधेरस्य
कृतिं विवक्षति ॥ ८३ ॥**

अधर की द्युति से (नूतनोद्गत कोमल) पल्लवों को परास्त करनेवाली, शोभायमान मुखवाली और (सौंदर्यतामें) चंद्रमाकी कांति को उलंघन करनेवाली, मनोहरभ्रुकुटीवाली (नायिका) की अनुपम देह, इस ब्रह्मा की कर्तव्य को नहीं

---

१ 'वियोगिनी' छंद है।

कहती है (इस देह का निर्माणकर्ता कोई दूसराही है; ब्रह्मा में इतनी शक्ति कहा कि ऐसी सुंदर रचना करसकै यह भाव)

व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमहो मौनं समालंबते सर्वस्मिन्विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालंबनाम् ॥ श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागंगेषु धत्ते धृतिं वैदेहीविरहव्यथाविकलितो हा हंत लंकेश्वरः ॥ ८४ ॥

वैदेहीके विरहजनित व्यथा से व्याकुल हुआ लंकेश्वर, क्षणमें विपरीत (बातें) कहता है; क्षणमें मौन रहता है; (क्षणमें) सर्व (संसारिक) विषयोंको शून्याकार दृष्टिसे देखता है, (क्षणमें) दीर्घश्वास लेता है; (और क्षणमें) किंचितमात्र भी अंगमें धैर्य धारण नहीं करता; हाय यह क्या ही कष्ट है !

उदितं मंडलमिंदो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण । मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन ॥ ८५ ॥

चंद्रमंडल उदित हुआ; विरहीवर्ग तत्काल रोये और समस्तकामिनीजनोंका श्रेष्ठ शासन करनेवाला मन्मथ आनन्दित हुआ (सायंकाल वर्णन है, एकही साथ तीन भाव उत्पन्न होने से ' समुच्चय ' अलंकार हुआ)

प्रादुर्भवति पयोदे कज्जलमलिनं बभूव नभः ।

रक्तं च पथिकहृदयं कपोलपाली मृगीदृशः पांडुः ॥ ८६ ॥

मेघके प्रकट होनेसे आकाश कज्जलके समान मलिन, पथिकका हृदय अनुरागपूर्ण (और) कुरंगनयनी (नायिका) का कपोल प्रदेश पांडुवर्ण हुआ (इसमें भी ' समुच्चय ' अलंकार है)

इदमप्रतिमं पश्य सरः सरसिजैर्वृतम् । सखे मा जल्प नारीणां नयनानि दहन्ति माम् ॥ ८७ ॥

हे सखे ! कमल से आच्छादित किए गए इस अद्वितीय सरोवरको देख, (इस प्रकार बोलनेवालेको उसका मित्र उत्तर देता है कि तू ऐसी) जल्पना न कर (कारण, कामिनी के नेत्र समान प्रफुलित कमलपुष्प अवलोकन करतेही) मुझे स्त्रीजनोंके नयन दहन करते हैं !

मुंचसि नाद्यापि रुषं भामिनिमुदिरालिरुदियाय । इति सुदृशः प्रियवचनैरपायि नयनाब्जकोण शोणरुचिः ॥ ८८ ॥

हे भामिनि ! मेघमाला (आकाश में) प्रादुर्भूत हुई (परंतु तू) अद्यापि रोष नही त्यागती है, इस प्रकार कहे गए प्रियतम के वचनों ने, सुलोचनी (नायिका) के नयनकमल के कोण में उत्पन्न हुई अरुणताको निःशेष किया ।

आलोक्य सुन्दरि मुखं तव मन्दहासं,

नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः ॥
किं चासिताक्षि मृगलांछनसम्भ्रमेण
चंचूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः ॥ ८९ ॥

हे सुंदरि तेरे मन्दहासयुक्तमुख को अवलोकन कर अरविन्दबुद्धि से (अर्थात् उसे अरविन्द जान, आसमंताद्भाग में) भ्रमर बहुशः गुंजार करते हैं, और हे कृष्णनयने ! मृगलांछन [चन्द्रमा] के भ्रमसे (उसी मुखचंद्र पर) चकोरपक्षी चिरकाल पर्य्यंत चोंच को चंचल करते हैं ।(चलाना चाहते हैं यह भाव)

स्मितं नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं
मुखं ब्रूते को वा कुसुममिदमुद्यत्परिमलम् ।
स्तनद्वन्द्वं मिथ्या कनकनिभमेतत् फलयुगं
लता सेयं रम्या भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥९०॥

यह मुसुकानि नहीं है, किंतु स्वभाव सौन्दर्यता का विकास है; इसे मुख कौन कहता है ? यह सुगंधमय पुष्प है; ये स्तनद्वय नहीं है, सुवर्णवर्ण दो फल हैं, यह भ्रमर समूह से नम्र की गई मनोहर लता है, रमणी नहीं (स्वधर्म को गोपन कर अन्यधर्मका आरोप करनेसे 'शुद्धापन्हुति' अलंकार हुआ)

संग्रामांगणसंमुखाहताकियद्विश्वंभराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा ॥
अंगारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमंडलं,मार्तंडोऽ-

यमुदेति केन पशुना लोके शशांकीकृतः ॥ ९१ ॥

संग्रामके अंगनकी अग्रभूमिमें प्राणत्यागे हुए अनेक महिपालोंसे विदीर्ण किए गए मध्य भागमें छिद्र हो जानेसे प्रकट हुई है आकाश की नीलिमा जिसमें ऐसा, अपने अंगार समान प्रदीप्त किरणों से इस भूमंडलको ग्रास करताहुआ यह मार्तंड [सूर्य] उदय हुआ है; किस पशु नें (इस) लोकमें (इसे) शशांक [चंद्र] किया? (कोई विरहणी चंद्रमासे संतप्त होकर उसे सछिद्र सूर्य मानती है; सूर्यमें कालिमा नहीं होती परंतु वह उसे भी दृढ़ करती है कि यह कालिमा सूर्य ही की है क्योंकि रणमें प्राण त्याग करने वाले योद्धा सूर्य मंडलको भेद करके ब्रह्मलोकको जाते हैं; इससे उन वीरोंके प्रवेश करने से सूर्यके मध्य छिद्र हो जाने से आकाशकी नीलिमा देख पडती है; अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह चंद्र नहीं सूर्यही है; वीरोंका सूर्यमंडल भेदना शास्त्र विहित है)

श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
किं तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च ॥
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ॥ ९२

सुलोचनी (नायिका)के नेत्रों का श्याम और शुभ्र स्वरूप नहीं है किंतु यह स्फुट अमृत तथा विष है; यदि ऐसा न होता तो इन का दृष्टिपात होते ही तत्काल युवापुरुष अत्यंत मोह तथा मोद [आनन्द] को क्यों प्राप्त होते? (नयनों

की श्यामता, गरल और शुभ्रता अमृत है; इसी से नायिका जिस पुरुष की ओर अमृत दृष्टि से अर्थात् प्रसन्न होकर देखती है उसे परमानंद होता है और जिसे विष दृष्टि से अर्थात् क्रुद्ध होकर देखती है उसे मोह होता है यह भाव। इसमें ' अपन्हुति ' अलंकार है)

अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किंचिद्विभासते ।
अरविंदं मृगांको वा मुखं वेदं मृगीदृशः ॥ ९३ ॥

इस मृगनयनी का (यह) मुख है, अथवा. मृगांक [चंद्रमा] है, अथवा कमल है; और इस (मुख) में शोभायमान (यह) नेत्र है, अथवा मृग है, अथवा भ्रमर है ? (ऐसी ऐसी शंका होती है । मुख में नेत्र, मृगांक में मृग और अरविन्द में आलि होतेही हैं इससे शंका अधिक पुष्ट हुई । यह ' संदेह, अलंकार है)

सुविरलमौक्तिकतारे धवलांशुकचंद्रिकाचमत्कारे । वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुंदरि राकाऽसि नात्र संदेहः ॥ ९४ ॥

(हारके विरल) मौक्तिकरूपी तारोंवाली, शुभ्र वस्त्र (के प्रकाश) रूपी चंद्रिका से चमत्कारवाली, वदनरूपी पूर्णचंद्रवाली हे सुन्दरि ! तू पौर्णिमा है, इसमें संदेह नहीं (' रूपक ' अलंकार है)

रूपजला चलनयना नाभ्यावर्ता कचावलि-

भुजंगा। मज्जंति यत्र संतः सेयं तरुणी तरं-
गिणी विषमा ॥ ९५ ॥

रूपरूपी जलवाली, चंचलनयनरूपी (मीनवाली) नाभि रूपी भ्रमरवाली, केशसमूहरूपी भुजंगमवाली यह तरुणी दुस्तर सरिता है; जिसमें (शृंगार शास्त्र प्रवीण) सज्जन मज्जन करते हैं (यह भी 'रूपक' है)

शोणाधरांशुसंभिन्नास्तन्वि ते वदनांबुजे। केस-
रा इव काशंते कांतदंतालिकांतयः ॥ ९६ ॥

हे कृषांगि ! अरूणअधर की किरणों से मिश्रित तेरे वदनकमल में मनोहर दंतपंक्ति की कांति केसर [किंजल्क] के समान शोभायमान है।

दयिते रदनत्विषांमिषा दयि तेऽमीविलसंति
केसराः। अपि चालकवेषधारिणो मकरंदस्पृ-
हयालवोऽलयः ॥ ९७ ॥

अयि कामिनि ! तेरी दशनकांति के मिष से ये किंजल्क और मकरंद के लोभी (ये)अलक वेषधारी भ्रमर,शोभायमा-न हो रहे हैं ('अपन्हुति' अलंकार है; इससे यह ध्वनि निक-लती है कि तू कामिनी नहीं है किंतु कमलिनी है)

तया तिलोत्तमीयंत्या मृगशावकचक्षुषा। म-
माऽयं मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ॥ ९८ ॥

उस तिलोत्तमा नाम अप्सरा के समान आचरण करने

वाली मृगशावकनयनी के कारण यह मेरा मर्त्यलोक स्वर्ग-लोक तुल्य हुआ है ।

अंकायमानमलिके मृगनाभिपंकं पंकेरुहाक्षि वदनं तव वीक्ष्य बिभ्रत् । उल्लासपल्लवित-कोमलपक्षमूलाश्चंचूपुटं चटुलयंति चिरं चकोराः ॥ ९९ ॥

हे कमलनयने ! भालमें कस्तूरीतिलकसंयुक्त शोभायमान तेरे मुखको अवलोकन कर आनंदसे प्रफुल्लित किये हैं कोमल पंखमूल जिन्होंने ऐसे चकोर पक्षी चिरकालपर्यंत चोंचको चंचल करते हैं (चलाना चाहते हैं यह भाव । भाल में कस्तूरीके कृष्णवर्णके तिलकके कारण चकोरोंको सकलंक चंद्रमाका भ्रम होनेसे यह 'भ्रम' अलंकार हुआ)

शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनामृतरश्मि-मंडलम् । न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषे-ण तथेदमाननम्[1] ॥ १०० ॥

हे कृशाङ्गि ! जैसे शिशिर ऋतुमे कमल और दिनमें चंद्रमंडल किंचितमात्र भी शोभायमान नहीं होते वैसे ही रोषमें यह तेरा मुख सुशोभित नही होता ।

चलद्भृंगमिवांभोजमधीरनयनं मुखम् । तदीयं यदि दृश्येत कामः क्रुद्धोऽस्तु किं ततः ॥ १०१ ॥

१ 'वियोगनी' छंद है ।

चंचलभृंगयुक्तकमल के समान चपलनयनोंवाला उस (कामिनी) का मुख यदि दर्शन को मिलै तो काम क्रुद्ध होकर क्या करसकैगा ?

शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहं तस्याः सुधैक-
मयमूर्तेः । येनाकारिषि मित्रं सुविकलहृदयो
विधिर्वाच्यः १०२ ॥

जिसने उस सुधास्वरूप (नायिका) की मित्रता संपादन की वही विधिवंचित, विकलहृदय और वज्र के समान कठोर चित्तवाला मैं हूं (नायिका को प्रीतिपात्र बनाकर कुछ काल के अनंतर मूर्खतावश उसका त्याग कर पश्चात् पश्चात्ताप करनेवाले नायक की उक्ति है)

श्यामलेनांकितं बाले भाले केनापि लक्ष्म-
णा । मुखं तवांतरासुप्तभृंगफुल्लांबुजायते १०३

हे बाले ! भालमें श्यामवर्णके मनोहर चिन्ह से चिन्हित तेरा मुख, मध्य में सोए हुए भ्रमर संयुक्त कुसुमित कमलके समान शोभायमान है ।

अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृष्य-
सि । भूमंडलमिदं मूढ केन वा विनिभालि
तम् ॥ १०४ ॥

हे चन्द्र ! (मैं बडा) कांति (मान हूं इस विचार) से अपनेको अद्वितीय मान क्यों हर्षित होता है ? (अरे) मूढ !

इस भूमंडलको किसने देखा है! (इसमें तेरे समान और भी सौन्दर्यमान हैं यह भाव । किसी विरहीकी उक्ति है; मेरी प्रियतमाका मुख त्वत्तुल्य दीप्तिमान है यह ध्वनी, इसमें निकलती है)

नीलांचलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः । प्रतिबिंबित इव यमुनागभीरनीरांतरेणांकः ॥ १०५ ॥

नीलपट से आच्छादित मृगनयनीका मुख, यमुनाके गंभीर नीरमें प्रतिबिंबित चन्द्रमाके समान शोभायमान है ।

स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः।
शशांकबिंबतो मेरौ लंबमान इवोरगः ॥ १०६ ॥

कुटिल अलक, कपोलसे कुचमंडलके उपर गिर, चन्द्रबिंबसे सुमेरुपर्वत पै लंबायमान सर्पके समान शोभा देती है।

यथा लतायाः स्तबकानतायाः स्तनावनम्रे नितरां समाऽसि । तथा लता पल्लविनी सगर्वे शोणाधरायाः सदृशी तवाऽपि ॥ १०७ ॥

हे स्तनभारनम्रे! जैसे पुष्पगुच्छोंसे नतहुई लताके समान (तू) अत्यंत (नम्र) है, तैसे ही हे सगर्वे! [गर्वसहिते] तेरे अरुण अधरोंके सदृश (नूतन) पल्लववाली लता भीहै (स्तनभारसे विशेष नम्र होनेके कारण मैं नतलताकी उपमान हुई यह समुझ गर्व न कर, पल्लविनी लता भी तेरे अधरोंकी उपमान है यह भाव)

इदं लताभिः स्तबकानताभिर्मनोहरं हंत व-
नांतरालम्। सदैव सेव्यं स्तनभारवत्यो न
चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः॥ १०८॥

स्तनभारवती युवती यदि चित्तको न हरण करै तो पुष्प-गुछ से नम्रहुई लताओंसे सौन्दर्यमान काननका मध्यभाग सदैव सेवने योग्य है (नम्रलताओंको अवलोकन कर कामिनीका स्मरण होगा यह भाव)

सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिता खिल-
दोषा। बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न प्रातरानन-
जसौरभलुब्धैः[1]॥ १०९॥

मेरे आगमनसे अधिक हुआ है संतोष जिसको (और) जागरण से व्यतीत की है सारी रात्रि जिसने ऐसी वह (नायिका) प्रातःकाल मुखोत्पन्न सुगंध के लोभी मधुपों के जगाने से भी न जगी।

अविचिंत्यशक्तिविभवेन सुंदरि प्रथितस्य शं-
बरारिपोः प्रभावतः। विधुभावमंचिततमांतवा
ननं नयने सरोजदलनिर्विशेषताम्[2]॥ ११०॥

हे सुंदरि! अपूर्व शक्तिवैभव से प्रसिद्ध मन्मथ के प्रभाव से तेरा मुख चंद्रभाव को और नयनद्वय कमलदल की समता को प्राप्त हुए हैं (मदन संचार होने से मुख चंद्र समान और नयन कमल समान हुए यह भाव)

---

१ यह 'स्वागता' छंद है। २ 'मंजुभाषिणी' छंद है।

**मीनवतीनयनाभ्यां करचरणाभ्यां प्रफुल्लक-
मलवती । शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुं-
दरी सरसी ॥ १११ ॥**

युगलनयनों से मीनवाली, कर तथा चरणों से प्रफुल्लित कमलवाली और केशकलापसे सिवारवाली यह रसमई सुंदरी सरोवरिनी है (' रूपक ' अलंकार है)

**पांथ मंदमते किं वा संतापमनुविंदसि । पयो-
धरं समाशास्व येन शांतिमवाप्नुयाः ॥ ११२ ॥**

हे मंदमति पथिक! क्यों (काम) संतापको सहता है? (अरे) पयोधर [कुच] की आशा कर जिस से शांति प्राप्त होवै (पथिकको उपदेश है कि कंदर्पताप पयोधर ही शांत करैंगे इससे उनका अवलंबन उचित है । यह श्लोक द्व्यर्थिक है; दूसरे अर्थमें संताप से दाह और ' पयोधर ' से ' मेघ ' अर्थ लेना चाहिऐ)

**संपश्यतां तामतिमात्रतन्वीं शोभाभिराभासित-
सर्वलोकाम् । सौदामिनी वा सितयामिनी वे-
त्येवं जनानां हृदि संशयोऽभूत् ॥ ११३ ॥**

शोभासे सर्व लोकको सुशोभित करनेवाली उस अतीव कृशाङ्गी (नायिका) को अवलोकन करनेवाले मनुष्योंके हृदयमें ' यह सौदामिनी है अथवा शुक्ल यामिनी है ' इस प्रकारका संशय उत्पन्न हुआ (' संदेह ' अलंकार है)

---

१ 'इन्द्रवज्रा' छंद हैं ।

सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी सफुल्लपद्मा कि-
मियं नु पद्मिनी । समुल्लसत्पाणिपदां स्मिता-
ननामितीक्षमाणैः समलंभि संशयः ॥ ११४ ॥

उल्लसित करचरणोंवाली हास्यमुखी (नायिका) के देखनेवालों को 'पल्लव सहित यह लताही शोभायमान है क्या'? अथवा 'कुसुमित है कमल जिसमें ऐसी पद्मिनी ही है क्या'? इस प्रकार का संशय हुआ (यह भी 'संदेह' अलंकार है)

नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम् । स-
रोजं चन्द्रबिंबं वेत्यखिलाः समशेरत ॥ ११५ ॥

उस काल में, नेत्रों को आनंददेनेवाले कामिनी के मुख को देख 'यह कमल है अथवा चंद्रबिंब है' इस प्रकार सब को शंका हुई ।

कनकद्रवकांतिकांतया मिलितं राममुदीक्ष्य
कांतया । चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातक-
पोतकैर्वने ॥ ११६ ॥

सुवर्णरसकी कांतिके समान सुंदर सीताजी के संगमें रामचंद्रको अवलोकन कर, चपलासंयुक्त यह मेघही है, इस भ्रमसे चातकशावकोंने वनमें नृत्य किया ('भ्रम' अलंकार है)

---

१ 'वंशस्थ' छंद है । २ तडागिनी, सरोवरिनी ।
३ 'वैतालीय' छंद ।

वनितेति वदंत्येतां लोकाः सर्वे वदंतु ते । यूनां परिणता सेयं तपस्येति मतं मम ॥ ११७ ॥

सर्वजन इसे ' वनिता ' कहते हैं सो वे कहैं (परंतु) मेरे मतसे तो यह युवा पुरषोंकी तपस्याका फल है ।

स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम् । चकोराश्चंचरीकाश्च मुदं परतरां ययुः॥ ११८॥

उस स्मितमुखी विलासिनी (नायिका) को देख चकोरौं और भ्रमरौंको अत्यंत आनंद हुआ (चकोर, मुखको चन्द्र और भ्रमर कमल मान प्रमुदित हुए यह भाव । ' भ्रम ' अलंकार है)

वदनकमलेन बाले स्मितसुषमालेशमादधासि यदा । जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति ॥ ११९ ॥

हे बाले! जब तू वदनकमल में लेशमात्र मुसकानि की शोभा को धारण करती है तभी मैं यह जानता हूं कि इस जगत को पंचशायक [मन्मथ] ने विजय किया ।

कलिंदजानीरभरेऽर्धमग्ना बकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः । ध्वांतेन वैराद्विनिगीर्यमाणाः क्रोशंति मन्ये शशिनः किशोराः ॥ १२० ॥

यमुनाजलमें निमग्न है अर्द्ध शरीर जिनका ऐसे, बहुत शब्द करनेवाले ये बक (नहीं किंतु) वैरभावके कारण अंध-

कार से (अर्द्ध) निगलेगए मेरे जान चंद्रमाके बालक रुदन कर रहे हैं ।

परस्परासंगसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः । तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिं परामवैमि मध्यस्तनिमानमेति ॥ १२१ ॥

परस्परके संयोग सुखसे, नम्रभृकुटीवाली (नायिका) के पयोधर विशेष स्थूल हुए । मेरे जान इनकी परम उन्नति को न सहन करनेसे कटिको कृशता हुई (लंककी कृशताका कारण कुचौंकी स्थूलताका न सहन है यह भाव । 'उत्प्रेक्षा' अलंकार)

जनमोहकरं तवालि मन्ये चिकुराकारमिदं वनांधकारम् । वदनेंदुरुचामिहाप्रचारादिव तन्वंगि नितांतकांतिकांतम्[1] ॥ १२२ ॥

हे आलि ! हे कृशाङ्गि ! मनुष्यों को मोह उत्पन्न करने वाले और मुखरूपी चंद्रमा की कांति का प्रचार नहीं है जिसमें ऐसे इस तेरे महा मनोहर केशपाश को मैं निबिड अधंकार मानता हूं ('उत्प्रेक्षा' अलंकार है)

दिवानिशं वारिणि कंठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरंती । वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यंबुजपंक्तिरेषा ॥ १२३ ॥

१ 'माल्यभारा' ।

कंठपर्य्यंत जल में निशिदिन दिवाकर [सूर्य] को आराधनेवाली यह कमलपंक्ति, क्या सुलोचनी (नायिका) के कुच होने के लिए तपश्चर्या करती है ? (' फलोत्प्रेक्षा ' अलंकार है)

वियोगवह्निकुंडेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि ॥
प्रियसंगसुखायैव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥ १२४ ॥

हे वियोगिनी! विरहरूपी अग्निके कुंड धारण करनेवाले इस तेरे हृदयमें मुक्ताहार, प्रियतमके संगसे होनेवाले सुखके अर्थ, तपस्या करता है (यह भी ' उत्प्रेक्षा ' है)

निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो
महामोहं मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम् । उपेक्ष्य त्वां यस्माद्विधुमयमकस्मादिह कृती कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमकरोत् ॥ १२५ ॥

तेरे लावण्यरासि मुख को निर्माण करनेवाले ब्रह्मदेव को मेरे जान महामोह प्राप्त हुआ; कारण, तेरी उपेक्षा कर, इस क्रियाकुशल विधि ने विकल (बुद्धि) की भांति कलाहीन दीन चंद्रमा को इस लोकमें राजा किया (सकल रमणीय पदार्थों में श्रेष्ठ तुझे करना था परंतु तेरे महामनोहर मुखको देख ब्रह्माने मोहित (सदसद्विचार हीन) होकर राजत्व चंद्र को दिया यह भाव)

स्तनांतर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् । मनोऽनुरागि ते तन्वि मन्ये वल्लभमीक्षितुम् ॥ १२६ ॥

हे कृशाङ्गि ! तेरा अनुरागी मन स्तनोंके मध्य माणिक्यके रूपमें बाहर आय मेरे जान प्रियतमको अवलोकन करनेकी इच्छा करता है ('अपन्हुति' अलंकार है)

जगदंतरममृतमयैरंशुभिरापूरयन्नितराम् । उद-यति वदनव्याजात् किमु राजा हरिणशा-वनयनायाः ॥ १२७ ॥

मृगशावकनयनीके वदन [मुख] के मिष से जगतको अमृत मय किरणोंसे भलीभांति पूरित करनेके लिए क्या (यह) चंद्रमा उदय हुआ है ? ('उत्प्रेक्षा' अलंकार है)

तिमिरशारदचंदिरचंद्रिकाः कमलविद्रुमचंपक-कोरकाः । यदि मिलंति कदापि तदाननं खलु तदा कलया तुलयामहे ॥ १२८ ॥

(निविड) अंधकार, शरच्चन्द्र, चंद्रिका, कमल, विद्रुम और चंपककली यदि किसी काल (एक पदार्थ) में मिलैं तो मैं उस नायिका के आनन की एक कला की तुलना करूं (तिमिर—केशकलाप, शरच्चन्द्र—मुख, चंद्रिका—लावण्यता, कमल—नयन, विद्रुम—ओष्ठ, चंपककलिका—दंत जानना)

प्रिये विषादं जहिहीति वाचं प्रिये सरागं वदति प्रियायाः । वारामुदारा विजगाल धारा विलो-चनाभ्यां मनसश्च मानः ॥ ॥ १२९ ॥

---

१ यह 'द्रुतविलंबित, छंद है

'हे प्रिये! विषाद त्यागिये' इस प्रकार अनुरागयुक्त प्रियतमके कहने से नायिकाके लोचनद्वयसे अपरिमित अश्रु. धारा और मनसे मान (दोनौं एक ही साथ) स्खलित हुए एक कारणसे दो कार्य भए इससे 'समुच्चय' अलंकार हुआ

राज्याभिषेकमाज्ञाय शंबरासुरवैरिणः । सुधा-
भिर्जगतीमध्यं लिंपतीव सुधाकरः ॥ १३० ॥

मन्मथका राज्याभिषेक (होनेवाला है यह) जान चंद्रम) पृथ्वीतलको मानौ सुधासै लीप रहा है (चंद्रिका वर्णन है । इसमें 'समासोक्ति' और 'उत्प्रेक्षा' अलंकारका संकर है)

आननं मृगशावाक्ष्या वीक्ष्य लोलालकावृतम् ।
भ्रमद्भ्रमरसंभारं स्मरामि सरसीरुहम् ॥ १३१ ॥

मृगशावकनयनी का, चंचल अलक से आच्छादित मुख अवलोकन कर मैं भ्रमण करनेवाले भ्रमरसमूहसंयुक्त कमल को स्मरण करता हूं ('स्मृति' अलंकार है)

यांती गुरुजनैः साकं स्मयमानाननांबुजा । ति-
र्यग्ग्रीवं यदद्राक्षीत् तन्निष्पत्राकरोज्जगत् ॥ १३२॥

गुरुजनौंके साथ गमन करनेवाली, सहास्यमुखरूपी कमलवाली (बाला) ने जिसकी (ओर) तिरछी ग्रीवा करके देखा उसको महान व्यथा उत्पन्नकी (इसमें 'निदर्शन' अलंकार है)

नयनानि वहंतु खंजनानामिह नानाविधमंग

भंगभाग्यम् । सदृशं कथमाननं सुशोभं सुदृशो भंगुरसंपदांऽबुजेन ॥ १३३ ॥

(जिसके नेत्रौं अवलोकन कर) खंजन के नेत्र नाना प्रकार (अपने को) हतभाग्य समुझते हैं (उस) सुलोचिनी के मनोहर मुख की सादृश्य, भंगशील है शोभा जिसकी ऐसे कमल से,कैसे (हो सकती है?) उपमान से उपमेय की आधिकता वर्णन करने से ' व्यतिरेक , अलंकार हुआ ।

मृणालमंदानिलचंदनानामुशीरशैवालकुशेशयानाम् । वियोगदूरीकृतचेतनानां विनैव शैत्यं भवति प्रतीतिः ॥ १३४ ॥

वियोगके कारण जाती रही है चेतना जिनकी ऐसे पुरषों को मृणाल, मंदवायु, चंदन, खस, शैवाल (सिवार) और कमल शीतलता शून्य अर्थात् उष्ण प्रतीत होते हैं ।

विबोधयन् करस्पर्शैः पद्मिनीं मुद्रिताननाम् । परिपूर्णोऽनुरागेण प्रातर्जयति भास्करः ॥१३५॥

प्रातःकाल मुकुलितमुखी कमलिनीको किरणस्पर्शसे जाग्रत करनेवाला अरुण भास्कर [सूर्य] जय पावै ! (प्रस्तुत सूर्य वर्णन अप्रस्तुत नायक वृत्तांत में घटित होनेसे ' समासोक्ति ' अलंकार हुआ । नायकपक्षमें पद्मिनीसे पद्मिनी नायिका; मुकुलितमुखीसे आलस्यमुखी किरणस्पर्शसे हस्तस्पर्श और अरुणसे अनुरागी अर्थ लेना चाहिए)

१ 'माल्यभारा' ।

आनम्य वल्गुवचनैर्विनिवारितेऽपि रोषात् प्रया-
तुमुदिते मयि दूरदेशम् । बाला करांगुलिनि-
देशवशंवदेन क्रीडाबिड़ालशिशुनाऽऽशु रु-
रोध मार्गम् ॥ १३६ ॥

नम्र और कोमल वचनों से निवारण किये जाने पै भी क्रोधवशात् दूरदेश को प्रयाण करने के लिए मुझ उद्यत होनेवाले का मार्ग, बाला ने, हस्त की अंगुली की आज्ञा से वश किएगए, विनोदी बिडाल शावक [खेलके हेतु पाले हुए बिल्ली के बच्चे] से रोका। (विदेशगमनवेलामें बिडालका मार्ग काटना अशुभसूचक होता है)

अभूदप्रत्यूहः कुसुमशरकोदंडमहिमा विली-
नो लोकानां सह नयनतापोऽपि तिमिरैः ।
तवाऽस्मिन् पीयूषं किरति परितस्तन्वि वदने
कुतो हेतोः श्वेतो विधुरयमुदेति प्रतिदिनम्॥१३७॥

हे कृशाङ्गि ! इस तेरे मुख में मन्मथ के धनुष का प्रताप निर्विघ्न (उदित) हुआ, (और ऐसा होने से) अंधकार के साथ मनुष्यों का नयनताप भी नष्ट हुआ; (तो भला) सर्व ओर अमृत बरसाते हुए यह श्वेत[1] चंद्रमा प्रतिदिन फिर क्यों उदित होता है ? (मुख में चंद्रमा का आक्षेप करके उसको निष्फल ठहराया जब तक चंद्रोदय नहीं होता तब तक

---

१ चंद्रमा क्षयी होने के कारण 'श्वेत शब्द से वर्णकी पांडुरता सूचित की ।

अंधकार रहता है, उसके उदय होने से सर्व ओर प्रकाश फैल जाता है, और मनुष्यों को उसकी शीतल किरणों से सुख होता है—स्त्री जब तक युवा नहीं होती तब तक उसका मुख मलीन—मलीन क्या तिमिराच्छादित सा रहता है, शरीर में मदनसंचार होने से वही मुख परम प्रकाशमान हो जाता है, और देखनेवालों को आनंद देता है, इस प्रकार चंद्र और कामिनी के मुख की तुलना उपरोक्त श्लोकमें की है । इसमें ' आक्षेप ' और ' सहोक्ति ' अलंकार का संकर है)

विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयंत्यः । अनल्पमायामयवल्गुलीला जयंति नीलाब्जदलायताक्ष्याः॥ १३८ ॥

विवेकी युवा पुरषोंके भी हृदयको विना शस्त्रके विदारण करनेवाली, महामनोहरमायावीलीलावाली कमलदललोचनी (कामिनी) जय पावैं ! (शस्त्ररूपी कारणके विना हृदय विदारणरूपी कारज होनेसे' विभावना' अलंकार हुआ) (१)

यदवधि विलासभवनं यौवनमुदियाय चंद्रवदनायाः । दहनं विनैव तदवधि यूनां हृदयानि दह्यंते ॥ १३९ ॥

चंद्रवदनी (कामिनी) का विलासस्थानरूपी यौवन जब तक नहीं उदित हुआ तबतक अग्निके विना ही तरुण पुरषों के हृदय दग्ध होने लगे (यह भी' विभावना' अलंकार हुआ)

न मिश्रयति लोचने सहसितं न संभाषते कथा-
सु तव किं च सा विरचयत्यरालां भ्रुवम्। विपक्ष
सुदृशः कथामिति निवेदयंत्या पुरः प्रियस्य
शिथिलीकृतः स्वविषयेऽनुरागग्रहः[१] ॥ १४० ॥

सपत्नी मुग्धा नायिकाके ऊपर विशेष प्रीति करनेवाले नायकसे मुग्धाके दोष वरणन करके उसके विषयमें नायकको अरुचि उत्पन्न करनेवाली प्रौढा नायिकाकी उक्ति हैः—'वह (मुग्धा) नयनौंको नहीं मिलाति है; तव संबन्धी कथामें सहास्य (मुख होकर) भाषण नहीं करती किंतु भृकुटी वक्र चढाती है' इस प्रकार सपत्नी की कथाको प्रियके सन्मुख निवेदन करनेवाली नायिकाने नायिकके मुग्धाविषयक अनुरागको शिथिल [न्यून] किया। (असत्य वातका सत्यैव प्रतिपादन करनेसे 'विषम' अलंकार हुआ)

वड़वानलकालकूटवन्मकरव्यालगणैः सहैधितः।
रजनीरमणो भवेन्नृणां न कथं प्राणवियोग-
कारणम्[२] ॥ १४१ ॥

वडवाग्नि, कालकूट [विष], मकर, [नक्र] और सर्पगणौंके सह वृद्धिंगत चंद्रमा मनुष्योंके प्राणनाथका कारण क्यों न होवै? (जिस समुद्रमें ये उपरोक्त दुःखदाई पदार्थ तथा जीव रहते हैं उसी से चंद्रमाकी भी उत्पत्ति है, इस हेतु उनका संग होना इसे संभवही है; वस तो जिस प्रकार उसके साथी प्राण

१ 'पृथ्वी' छंद है। २ 'वैतालीय' छंद है।

लेने में कुशल हैं उसी प्रकार चंद्र भी क्यों न होना चाहिए? (यह किसी विरहिणीकी उक्ति है। दुष्टसंगरूपी कारणके अनुसार प्राणघातरूपी कारजका वरणन करने से 'सम' अलंकार हुआ)

लभ्येत् पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा तया सुपुत्राः
परितः पवित्राः। स्फीतं यशस्तैः समुदेति नित्यं
तेनास्य नित्यः खलु नाकलोकः ॥ १४२ ॥

पुण्यसे सुंदर स्त्री मिलती है; स्त्रीसे सच्चरित्र सुपुत्र (होते हैं); पुत्रोंसे विमल यशका दिन दिन उदय होता है; और यशसे इसको[1] (यह लोक) नित्य स्वर्लोकतुल्य (हो जाता है)। इस पद्यमें एक वस्तु दूसरेका कारण है इससे 'कारण माला' अलंकार हुआ।

प्रभुरपि याचितुकामो भजते वामोरु लाघ-
वं सहसा। यदहं त्वयाऽधरार्थी सपदि विमुख्या
निराशतां नीतः ॥ १४३ ॥

हे वामोरु[2]! याचना करने वाले प्रभु [स्वामी—समर्थवा-नपुरुष] भी सहसा लघुत्वको प्राप्त होते हैं; जिसप्रकार तुझ परागमुखी के अधर (पान) की इच्छा करनेवाला मैं शीघ्रही निराशता को पहुँचा हूं (अधर चुंबन करने का अधिकार भी होकर निराश किया जाना याचना का महाही दुखद फल

१ जिस पुरुषको ये पदार्थ प्राप्त हैं उसको। २ मनोहरोरु-सुंदर है जंघा जिसकी ऐसी।

हैं; जब अधिकारियों को उन वस्तुओं के याचने में जिन पै उनका सत्व है यह दशा होती है तो साधारण याचकों को लघुत्व मिलना यथार्थ ही है । इसमें ' अर्थान्तरन्यास अलंकार है)

जलकुंभमुंभितरसं सपदि सरस्याः समान-
यंत्यास्ते । तटकुंजगूढसुरतं भगवानेको म-
नोभवो वेद ॥ १४४ ॥

जलपूरित जलघट सरोवर से सवेग लानेवाली तेरी, तट के कुंज में गुप्त रति को एक भगवान मनोभाव [कामदेव] ही जानते हैं (गुप्त रति करनेवाली नायिका के प्रति सखी की उक्ति है । सुरत में भी कंप, निःश्वास इत्यादिक होते हैं और वेगसे चलनेमें भी, इस कारण उपरोक्त नायिका की यह दशा इन दो में से किस कारण से हुई यह स्पष्ट न होने से ' मीलित ' अलंकार हुआ)

त्वामिव पथिकः प्रियो मे विटपिस्तोमेषु गम-
यति क्लेशान् । किमितोऽन्यत् कुशलं मे संप्रति
यत्पांथ जीवामि ॥ १४५ ॥

किसी पथिकसे कुशलप्रश्न पूंछिगई कोई ' प्रोषितपतिका नायिका उत्तर देती हैः—हे पांथ [पथिक !] तेरे समान मेरा पथिक प्रियतम वृक्षसमूहों में क्लेश पाता है; इस कालमें इससे अन्यत् मेरी क्या कुशल है जिससे मैं जीवित रहूं ?

किमिति कृशासि कृशोदरि किं तव परकीय-
वृत्तान्तैः । कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति
पांथ तव जाया ॥ १४६ ॥

(कोई पथिक किसी नायिकासे प्रश्न करता है कि) हे कृशोदरि! तू इतनी कृश क्यों है? (यह सुन नायिका उत्तर देती है) दूसरेके वृत्तांतसे तुझे क्या? (पथिक फिर पूंछता है) तथापि मेरे विनोदार्थ कह? (उसका उत्तर वह देती है) हे पांथ! (तेरे प्रश्नका उत्तर) तेरी स्त्री देगी (पथिकके प्रश्नका यह अभिप्राय है कि यदि तू कृश होनेका कारण कहे तो मैं तेरे दुःख निवारणार्थ प्रयत्न करूं, पथिकने यह जाना कि वह विरहसे कृशाङ्गी है, परंतु सती स्त्री दूसरे पुरुष से अपना वृत्त नहीं कहतीं इससे नायिकाने उत्तर देना अनुचित समुझा, जब पांथने अधिक अनुरोध किया तब नायिकाने अपने उत्तरसे यह सूचना की कि मेरी कृशताका कारण तेरी स्त्री कहेगी अर्थात् जिस प्रकार मेरा पति विदेशी होने से कामव्यथाने मुझे कृश किया है उसी प्रकार तेरे पथिक होनेसे तेरी स्त्रीको भी किया होगा। इसमें यह ध्वनि निकली है कि निज स्त्रीके कृशताकी औषधि न कर मुझ से कारण पूंछता है इससे तू महामूर्ख है)

तुलामनालोक्य निजामखर्वं गौरांगि गर्वं न क-
दापि कुर्याः। लसंति नानाफलभारवत्यो लताः
कियत्यो गहनांतरेषु ॥ १४७ ॥

हे गौराङ्गि ! अपनी योग्यता को न देख बहुत गर्व न कर; वनप्रदेश में नाना प्रकार के फलों से भारवती कितनी हीं लता शोभायमान हैं (तेरे पास तो कुचरूपी दो ही फल होते हैं परंतु लताओं में अनेक फल होते हैं और तिस पर भी वे अपने ऐश्वर्य का गर्व न कर सबको हाथ लगाने देती हैं यह भाव)

इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा परिफुल्लं नयनांबुजद्वयं ते । जलदालिमयं जगद्वितन्वन् कलितः क्वापि किमालि नीलमेघः ॥ १४८ ॥

तेरे मुख की शोभा उल्लसित और नयनकमलद्वय प्रफुल्लित हैं; हे आलि ! जगत को जलदपटलमय करनेवाले नीलमेघ [कृष्णचंद्र] को क्या कहीं देखा है ? (कृष्ण को अवलोकन कर मुख में प्रसन्नता के चिन्ह प्रगट करनेवाली नायिका के प्रति सखीकी उक्ति है)

आसायं सलिलांतः सवितारमुपास्य सादरं तपसा । अधुनाऽब्जेन मनाक् तव मानिनि तुलना मुखस्याऽपि ॥ १४९ ॥

हे भामिनी ! सायंकाल से जल मे आदरपूर्वक तपस्या से सूर्यनारायणकी उपासना कर अब अर्थात् प्रातःकाल में कमल ने तेरे मुखकी कुछ तुलना पाई है (तेरा मुख कमल से भी विशेष शोभायमान है यह भाव)

---

१ 'माल्यभारा' छंद ।

अयि मंदस्मितमधुरं वदनं तन्वंगि यदि मना-
क् कुरुषे ॥ अधुनैव कलय शमितं राकार-
मणस्य हंत साम्राज्यम् ॥ १५० ॥

हे कृशांगि! यदि (तू) किंचित (अपने) मुखको मंद मुसुकानि से मधुर करै (तो) चंद्रमाकी शोभा इसी समय शांत हुई जान पड़े (तेरा मुख चंद्रकी शोभाको जीत सकता है यह भाव)

मधुरतरं स्मयमानः स्वस्मिन्नेवालपञ्छनैः
किमपि । कोकनदयंस्त्रिलोकीमालंबनशून्य-
मीक्षते क्षीबः ॥ १५१ ॥

मंद मुसुकानेवाला उन्मत्त पुरुष अपनेही मन में धीरे धीरे कुछ कहता है (और) रक्तकमल के समान त्रिलोकी को आलंबनहीन देखता है (मत्तमनुष्य का वर्णन है यह आर्या ' शृंगारविलास ' के योग्य तो नहीं जान पडती)

मधुरसान्मधुरं हि तवाधरं तरुणि मद्वदने वि-
निवेशय । मम गृहाण करेण करांबुजं प प
पतामि ह हा भ भ भूतले ॥ १५२ ॥

हे तरुणि! मधु से अधिक मधुर अपने अधर को मेरे वदन पै स्थापनकर अर्थात् मुझे चुंबन दे और हाथ से मेरे हस्त कमल को पकड (देख) म म मैं भ भ भूमि पै ग ग गिरता हूं (मद्यपान से मत्त हुए पुरुष की उक्ति है, अपनेहीं

कर को करकमल कहना और शब्दों का दुरुच्चारण उन्मत्तताव्यंजक है)

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने । विबोध्य क्षामांगीं चकितनयनां स्मेरवदनां सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह सुकृती राजरमणीम् ॥१८३॥

अनेक उपायोंसे किसी प्रकार राजमंदिरके शिखरके ऊपर प्राप्त होकर, अमृतके फेन समान स्वच्छ पुष्पशय्या पर एकांत स्थलमें सोनेवाली, कृषांगी, चकितनयनी, मंदमुसुकानिमुखी, राजरमणीको जागृत करके श्वास परित्याग करते हुए पुण्यवान पुरुष आलिंगन करते हैं (ग्रंथकर्ता पंडितराज ही का तो यह वृत्तांत नहीं ?)

गुंजंति मंजु परितो गत्वा धावंति संमुखम् ।
आवर्तंते विवर्तंते सरसीषु मधुव्रताः ॥ १८४ ॥

सरोवरिणी में मधुप सर्व और मंजु गुंजार करते है, सन्मुख जाकर दौडते हैं, आते हैं और जाते भी हैं (इस श्लोक में एक तो शरदतु का समीपत्व सूचित होता है और दूसरे यौवन कों शीघ्रही प्राप्त होनेवाली नायिका के निकट जार पुरुषों का आवागमन भी ध्वनित होता है)

यथा यथा तामरसेक्षणा मया पुनः सरागं नि-

तरां निषेविता । तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो
विकृष्य मामेकरसं चकार सा ॥ १५५ ॥

ज्यों ज्यों फिर मैं ने अनुरागपूर्वक भली भांति कमलनयनी (नायिका) सेई त्यौं त्यौं उसने ब्रह्मज्ञानकथाके समान मुझे सर्व वस्तुमात्र से आकर्षण कर अर्थात् सबसे मेरा मन हटाय एक (शृंगार) रसमय किया ।

हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते । सेवितं सर्वसंपद्भिरपि तद्भवनं वनम् ॥ १५६ ॥

जहां मृगलोचनी गृहिणी दृष्टिगोचर नहीं वह गृह सर्व संपत्तिसे सेवन किया गया भी वन है ।

लोलालकावलिचलन्नयनारविंदलीलावशंवदितलोकविलोचनायाः । सायाहनि प्रणयिनो भवनं व्रजंत्याश्चेतो न कस्य हरते गतिरंगनायाः ॥ १५७ ॥

चंचल अलकपंक्ति (और) चपल नयनकमलौं की लीला से मनुष्यों के नैत्रों को वश करनेवाली, सायंकाल प्रियतम के गृह को गमन करनेवाली कामिनीकी गति किसके मन को नहीं हरण करती ?

दंतांशुकांतमरविंदरमापहारि सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः । वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेंदुबिंबं दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥१५८॥

१ 'वंशस्थ' छंद है ।

ज्ञानीजनों में श्रेष्ठ, ब्रह्मदेव हरिणनयनी (कामिनी) के दंत की किरणों से मनोहर, कमलकी शोभाको हरण करने वाले, अमृतके अनुपमस्थल मुखकी रचना कर चन्द्रबिंबको पुनरुक्त के समान क्यों नहीं दूर करता है ? (एक वार मृगाक्षीका मुखरूपी चंद्र निर्माण करके इस आकाशस्थ द्वितीय चंद्रमाको, जैसे कविलोग पुनरुक्तिको निकाल डालते हैं, क्यों नहीं दूर करता ? अर्थात् चंद्रमाका काम तो मुख करही रहा है फिर उसके उत्पन्न करने से लाभही क्या ? केवल एक वस्तुकी दूसरी प्रतिमामात्र है)

सानुकंपाः सानुरागाश्चतुराः शीलशीतलाः ।
हरंति हृदयं हंत कांतायाः स्वांतवृत्तयः ॥ १५९ ॥

कामिनी के अंतःकरण की, दयाशील, अनुरागी, चतुर (और) शीलशीतल, वृत्ति मेरे हृदय को हरण करती है ।

अलकाः फणिशावतुल्यशीला नयनांता परि-
पुंखितेषुलीलाः । चपलोपमिता खलु स्वयं या
बत लोके सुखसाधनं कथं सा ॥ १६० ॥

(जिसकी) अलकावलि भुजंगशावक के समान स्वभाव वालीहै; (जिसके) नेत्रकटाक्ष सपुंख बाण की लीला (को अनुकरण करनेवाले) हैं; जो स्वयं विद्युलता से उपमा दी जातीहै हा ! वह (नायिका) इस लोक में किस प्रकार सुखकारक (हो सकती) है ?

वदने तव यत्र माधुरी सा हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत् । अधुना हरिणाक्षि हा कथं वा गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम् ॥ १६१ ॥

हे मृगनयने! जिस वदन में वह माधुरी, और कोमल हृदय में (वह) पूर्ण करुणा रही[1], हाय अब (वहीं) गुणौंकी अन्य अर्थात् विपरीत गति कैसे अवलोकन की जाती है ? (प्रथम की दया और वचनौं की माधुर्य्यता के स्थानमें अब तू ने वाक्कटुता और हियकी कठोरता किस प्रकार अंगीकारकी ? यह भाव)

अनिशं नयनाभिरामया रमया संमदिनो मुखस्य ते । निशि निःसरादिंदिरं कथं तुलयामः कलयापि पंकजम्[2] ॥ १६२ ॥

सदैव नेत्रौंको आनंद देनेवाली शोभासे गर्वित तेरे मुख की (एक) कलाकी भी, निशा में नाश होती है सौंदर्य्यता जिसकी ऐसे कमल से, हम किस प्रकार तुलना करैं ? (मुख सदैव शोभायमान रहता है और कमल रात्रिमें मुकुलित होने से शोभाहीन होजाता है इससे दोनौंकी तुलना नहीं हो सकती यह भाव । उपमेय मुखसे उपमान कमल में न्यूनता सूचित की इससे ' व्यतिरेक ' अलंकार हुआ)

अंगैः सुकुमारतरैः सा कुसुमानां श्रियं हर-

---

१ शब्दार्थ भई, हुई । २ 'वैतालीय' छंद है ।

ति । विकलयति कुसुमबाणो बाणालीभिर्मम प्राणान् ॥ १६३ ॥

(उधर) वह (नायिका अपने) सुकुमारतर अंगोंसे पुष्पों की शोभा को हरण करती है; (इधर) पुष्पबाण [मन्मथ] शरसमूह से मेरे प्राणों को विकल करता है (पुष्प, मन्मथ के बाण हैं उनकी शोभा कामिनी ने हरण की इससे काम को उचित था कि उसे दंड देता परंतु वैसा न करके किसी दूसरे ही पुरुष को वह विकल करता है इससे कारज असंगत हुआ अर्थात् जो क्रिया जहां होनी चाहिए थी वहां न होकर अन्य स्थल में हुई । यह ' असंगति ' अलंकार है)

खिद्यति सा पथि यान्ती कोमलचरणा नितम्बभारेण । खिद्यामि हन्त परितस्तद्रूपविलोकनेन विकलोऽहम् ॥ १६४ ॥

(उधर) मार्ग में गमन करती हुई वह कोमलचरणा (कामिनी) नितंब भार से खेद पाती है और उधर आसमंताद्भागमें उसके स्वरूपको अवलोकन करने से विकल हुआ हाय मैं खेदित होता हूं !

मथुरागमनोन्मुखे मुरारावसुभारार्तिभृतां व्रजांगनानाम् । प्रलयज्वलनायते स्म राका भवनाकाशमजायताम्बुराशिः ॥ १६५ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र के मथुरा गमनोन्मुख होने से, प्राणरूपी

भार के दुःख को धारण करनेवाली व्रजनारिओं को, पौर्णिमाकी रात्रि प्रलयकाल के अग्निसमान और गृहप्रदेश समुद्र समान हुआ ।

केलीमंदिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येंगितैः
सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनं कुर्वतः ।
जानंत्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या
सखि श्रांतासीत्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्मे
मासंजितः ॥ १६६ ॥

(मुझे) केलिमंदिर में आया जान, धीरे धीरे सैन से सखियों को दूर करके सोई हुई सरोष कमलनयनी ने व्यजन [पंखा] से पवन संचार करने वाले मुझे जानकर भी अजान की भांति, कपट से अर्थात् झूठमूठ नेत्रों को बंद किए 'हे सखि तू थकगई' ऐसा कहके (अपने) हृदय में मेरे कर को स्थापन किया (नायिका ने अपना रोष नायक के द्वारा छुडाना चाहा, इससे सोने का निमित्त लेकर व्यजन करते हुए पति के हस्त को सखी के हस्त के मिष से अपने उर-स्थल में लगाया, उधर नायक को भी मान त्याग करने के लिए अधिक विनय करने का प्रसंग भी न आया और अनायास अपना हाथ कामिनी के उर में जाने से कुचस्पर्शन का लाभ भी हुआ; तात्पर्य दोनों का मनमाना कार्य हुआ. विना प्रयत्न नायिका के उरस्थल का स्पर्श होने से 'प्रहर्षण' अलंकार हुआ)

मांथर्यमाप गमनं सह शैशवेन रक्तं सहैव मनसा ऽधरसीबिंबमासित् । किंचाभवन्मृगकिशोरदृशो नितंबः सर्वाधिको गुरुरयं सह मन्मथेन॥१६७॥

बाल्यावस्थाके साथ मृगशावकलोचनी की गमनगति मंद हुई अर्थात् जैसे जैसे शिशुताका धर्म मंद होता गया वैसे वैसे नायिका भी मंदगामिनी होती गई; मन के साथ ही बिंबाधर अरुणवर्ण हुए; (रक्तका अर्थ अनुराग और रक्तरंग दोनों होते हैं इससे यह कहा कि ज्यों ज्यों मन अनुरागी होता गया त्यों त्यों ओष्ट भी रागी [अरुण] हुए) और मन्मथ [कामदेव] के साथ नितंब सबसे अधिक गरुये हुए अर्थात् जैसे काम बढ़ता गया तैसे नितंब भी पुष्ट होते गए ।

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यंगानि निश्चला दृष्टिः । नस्यातः सुभग कथेयं तिष्ठतु तावत्कथांतरं कथय ॥ १६८ ॥

(स्वयं महान प्रीति रखनेवाली परंतु नायिककी अनिच्छित नायिका के विरहजनित दुःखावस्थाका वर्णन कोई उसके प्रीतिपात्र से करता है और कहता है कि वह इतनी कृश हो गई है कि) श्वास चलता है कि नहीं इसका ज्ञान अनुमान से होता है, अंग सब शीतल हो गए हैं, दृष्टि निश्चल है (इस प्रकारका वर्णन सुनकर नायकका हृदय द्रवीभूत तो न हुआ किंतु उलटा उसने यह उत्तर दिया कि) हे

मित्र उसकी इस कथाको रहने दो, और दूसरी वार्त्ता करो (ठीकहै "एक तो प्राण देत इक उपर एकन जानत पीरा")

पाणौ कृतः पाणिरिलासुतायाः सस्वेदकंपो र-
घुनंदनेन । हिमाम्बुसंगानिलविह्वलस्य प्रभात-
पद्मस्य बभार शोभाम् ॥ १६९ ॥

रामचंद्रजी के द्वारा ग्रहण किये जाने से जानकी जी का स्वेद युक्त कंपित हस्त, तुषारकण से मिश्रित पवनसे विह्वल किये गए प्रातःकाल के कमलकी शोभाको प्राप्त हुआ (हिमर्तुमें वायु संचार से प्रभात समय कमल की जैसी विह्वल दशा होजाती है वैसीही सीताजी के हस्त की हुई यह भाव)

अरुणमपि विद्रुमद्रुं मृदुलतरं चापि किसलयं
बाले ॥ अधरीकरोति नितरां तवाधरो मधुरिमा-
तिशयात् ॥ १७० ॥

हे बाले ! माधुर्य्यताधिक्य से तेरा अधर अरुण रंगके विद्रुमद्रुम और मृदुलतर नूतन पत्रकोभी अत्यन्त नीच द-शाको प्राप्त करताहै (विद्रुममें अरुणता है परंतु माधुर्य्यता और कोमलता दोनों नहीं; और किसलयमें अरुणता और मृदुलता है परंतु मधुरता नहीं इस लिए कामिनीका ओष्ठ अरुणता, कोमलता और माधुर्य्यता इन तीनो गुणोंसे पूर्ण होनेके कारण श्रेष्ठ हुआ)

सुदृशो जितरत्नजालया सुरतांतश्रमबिंदुमालया । अलिकेन च हेमकांतिना विदधेकाऽपि रुचिः परस्परम्[१] ॥ १७१ ॥

सुलोचनी (नायिका की, सुरत के अंत में उत्पन्न हुई रत्नजाल को जीतने वाली श्रमकणौं की माला और सुवर्णवर्ण ललाट, परस्पर विचित्र शोभा देते है (एक की शोभा दूसरे से कहा इससे 'अन्योन्य' अलंकार हुआ)

परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता हृदयं प्रियस्य सीता । अविशत् परकामिनीभुजंगीभयतः सत्वरमेव सोऽपि तस्याः ॥ १७२ ॥

परपुरुष के दृष्टिपातरूपी वज्रप्रहार के भय से सीता ने प्रिय [रामचंद्र] जी के हृदय में प्रवेश किया; (और) परस्त्रीरूपी भुजंगी [सर्पिणी] के भय से उस [रामचंद्र] ने भी (सीताजी के हृदय मे) शीघ्रही प्रस्थान किया—यह भी 'अन्योन्य' अलंकार है ।

अंगानि दत्त्वा हेमांगि प्राणान् क्रीणासि चेन्नृणाम् । युक्तमेतन्न तु पुनः कोणं नयनपद्मयोः ॥ १७३ ॥

हे हेमांगि ! अंगौं को देकर मनुष्योंके प्राण तू जो मोल लेती है सो उचित है परंतु फिर कमलनयनों के कटाक्ष से (उनके प्राण का क्रय करना योग्य) नहीं (नयनपद्मकोण

१ 'वैतालीय' छंद । २ 'माल्यभारा' छंद ।

अर्थात् अल्प कटाक्ष देकर अमूल्य प्राण लेती है; तात्पर्य यह कि देती तो थोडा परंतु लेती बहुत है । इस श्लोकमें ' परिवृत्ति, अलंकार है)

जितरत्नरुचां सदा रदानां सहवासेन परां मुदं ददानाम् । विरसादधरीकरोति नासामधुना साहसशालि मौक्तिकं ते ॥ १७४ ॥

(हे नायिके !) रत्नों की कांतिको जीतनेवाले दंतोंके सदा सहवासके कारण, अत्यंत आनंद देनेवाली नासिका को, द्वेषभाव से, तेरा साहस शालि (नासा-) मौक्तिक इस समय नीचदशाको प्राप्त करता है (रत्न जो मौक्तिकके सजातीय हैं उन्हें दंतोंने अपनी कांति से परास्त किया और इन्ही दंतोंकी निकटवर्ती नासिकाभी है इससे मौक्तिकको क्रोध हुआ और नासिकाभरण बनके उसके छेदन किए जानेका कारण हुआ यह भाव । नासा के अधोभागमें लटकने से दंतोके ऊपर मौक्तिक आजाता है इससे यदि ऐसा भी कहैं कि दंतोके ऊपर पादप्रहार करके, उसने अपने सजातियोंका पलटा लिया तो क्या अनुचित है ?)

विलसत्याननं तस्या नासाग्रस्थितमौक्तिकम् । आलक्षितबुधाश्लेषं राकेंदोरिव मंडलम् ॥ १७५ ॥

नासिकाके अग्रभागमें है मौक्तिक जिसमें ऐसा उस (नायिका) का मुख, बुध नामक ग्रहसे आलिंगित अवलोकन

किएगए पौर्णिमा संबंधीय चंद्रमंडलके समान शोभायमानहै ।

निभाल्य भूयो निजगौरिमाणं मा नाम मानं सहसैव यासीः । गृहे गृहे पश्य तवांगवर्णा मुग्धे सुवर्णा वलयो लुठंति ॥ १७६ ॥

हे मुग्धे ! अपनी गौरिमा [गौरवर्ण] को देख सहसा गर्व न कर; देख तेरे अंगके वर्ण समान सुवर्णके आभरण घर घरमें लोटते हैं (अंगवर्ण उपमेयको सुवर्ण उपमानसे आदर न होनेसे 'प्रतीप, अलंकार हुआ)

करिकुंभतुलामुरोजयोः क्रियमाणां कविभिर्विशृंखलैः । कथमालि शृणोषि सादरं विपरीतार्थविदो हि योषितः ॥ १७७ ॥

निरंकुश कवियोंके द्वारा कहीगई गजगंडस्थलसे कुचद्वयोंके तुलनाकी कथा, हे आलि ! तू सादर सुनती है; ठीक है, स्त्रियां विपरीत अर्थ जाननेवाली होती है (गजगंडस्थल अत्यंत उत्तुंग होनेके कारण यदि उनसे कुचौंको उपमा दी गई तो यह सूचित हुआ कि नायिका प्रगल्भादशाको प्राप्त होगई अर्थात् यौवन कालका अपगम समय निकट आया इस श्लोकमें नायिका से सखी यह कहती है कि तू अभी उस अवस्थाको नहीं पहुँची अर्थात् अभी मुग्धाही है तस्मात् 'करिकुंभ' की उपमा तेरे विषयमें अयोग्य है इसमें 'अर्थांतरन्यास' और 'प्रतीप' अलंकारका संकर है)

---

१ 'उपजाति' छंद ।

परिष्वजन् रोषवशात् तिरस्कृतः प्रियो मृगा-
क्ष्या शयितः पराङ्मुखः । किं दुःखितोऽसाविति
कांदिशीकया कदाचिदाचुंब्य चिराय सस्वजे १७८

आलिंगन करने में, रोष से तिरस्कार कियागया (और इसी कारण) पराङ्मुख [पीठ देकर] सोया हुआ प्रियतम क्या दुःखित है ? इस प्रकार मन में अनुमान कर भयभीत हुई मृगनयनी (नायिका) ने अनायास (नायकको) चुंबन करके चिरकाल पर्य्यंत हृदय से लगाया । (विना प्रयत्न आलिंगन का इच्छित लाभ होने से 'प्रहर्षण' अलंकार हुआ)

चेलांचलेनाननशीतरश्मिं संवृण्वतीनां हरिदृश्व-
रीणाम्।व्रजांगनानां स्मरजातकंपादकाण्डसं-
पातमियाय नीवी ॥ १७९ ॥

वस्त्रांचलसे मुखचंद्रको छिपानेवाली (और) श्रीकृष्णकी ओर अवलोकन करनेवाली व्रजनारियोंकी नीवी [कटिपट बंधन,] कामाधिक्यसे उत्पन्न हुई कंपके कारण, अकस्मात् खुल गई (लज्जासे इधर मुखाच्छादन करना चाहा उधर नीवी खुलगई अर्थात् इच्छाके प्रतिकूल कार्य हुआ इस हेतु इस श्लोकमें ' विषाद ' अलंकार जानना)

अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि
शुक्लभावः । हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुन-
रुल्लासमवाप जातपक्षः ॥ १८० ॥

सुलोचनी (नायिका) के दशनौंका शुक्लभाव, अधरोंके समागमसे अरुणताच्छादित भी, शुभ्रहास्य की सहायतासे फिर उल्लासको प्राप्त हुआ (निज शुक्लधर्मको परित्याग संगति के धर्मको ग्रहण करनेसे ' तद्गुण ' अलंकार हुआ)

सरसिरुहोदरसुरभावधरितबिंबाधरे मृगाक्षि तव । वद वदने मणिरदने तांबूलं केन लक्षयेम वयम् ॥ १८१ ॥

हे मृगलोचनि ! कमलांतर्गत सौरभके समान सुगंधवाले, बिंबाफलको तिरस्कार करनेवाले अधर और मणिवत् दशन धारण करनेवाले तेरे मुखमें तांबूलको हम किस प्रकार जान सकते हैं ? (नायिकाके मुखमें तांबूलजनित अरुणता न देख नायकने प्रश्न किया, उत्तरमें नायिकाने कहा कि मैंने तांबूल खाया है, परंतु कोई तांबूल लक्षण वदनमें न पानेसे नायिक कहता हैं कि तांबूलसे अधरमें अरुणता आती है परंतु तेरे अधर तो सदैवही अरुण रहते हैं; तांबूल खानेसे मुख सुगंधित होता है परंतु तेरा वदन तो स्वभावहीसे सुगंधित हैं, तांबूलसे दंत लाल हो जाते हैं परंतु तेरे दंत मणिमय हैं इससे उनका अरुण होना संभवही नहीं; अतएव भला फिर हम कैसे जाने कि तूने सत्यही तांबूल खाया है ? मुख और तांबूलके गुणकी सादृश्यता वर्णन करनेसे 'मीलित' अलंकार हुआ)

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफली कर्तुमहो

मनोरथान् । दयिता दयिताननांबुजं दरमी-
लन्नयना निरीक्षते ॥ १८२ ॥

नायक के समीप ही सोई हुई समर्थहीना कामिनी, मनोर्थ सुफल करने के लिए, किंचित नेत्रों को मुकुलित करती हुई, पतिके मुखारविंद को देखती है (लज्जा से नयन भली भांति नहीं खोलती और पति की ओर धीरे धीरे अवलोकन करके संभोगेच्छा प्रकट करती है इससे 'मध्या' नायिका जानना)

वदनारविंदसौरभलोभादिंदिंदिरेषु निपतत्सु ।
मय्यधरार्थिनि सुदृशो दृशो जयंत्यतिरुषा
परुषाः ॥ १८३ ॥

इति श्रीमत्पंडितराजजगन्नाथविरचिते भामिनी विलासे शृंगारो नाम द्वितीयो विलासः ॥ २ ॥

मुखारविन्दकी सौरभके लोभसे भ्रमरोंके (ओष्ठों पै) गिरते मुझ अधरकी याचना करनेवाले अर्थात् चुम्बनार्थी पै, रोषसे कुटिल हुए सुलोचनीके कटाक्ष जय पावैं ! (एक तो मुखके सुगंधके लोभी भ्रमर ही कष्ट दे रहे थे तिस पै नायिकने अधरचुंबन चाहा फिर भला नायिकाकी दृष्टि वक्र क्यों न होवे ? परंतु कामुकोंको इस प्रकारकी परुष विलोकनि भी सुखदात्री होती है इसी से नायिक उस चितवनि का

भी उत्कर्ष चाहता है । ' जयंति ' शब्द से कवि ने, द्वितीय विलास के अलंकार किया)

भामिनीविलास के प्रास्ताविक नामक द्वितीय विलास का प्राकृत भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥

अथ भामिनी विलासे

तृतीयःकरुणा विलासः ।

दैवे पराग्वदनशालिनि हंत जाते याते च संप्रति दिवं प्रति बंधुरत्ने । कस्मै मनः कथयितासि निजामवस्थां कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम् ॥ १ ॥

इस समय दैवके पराङ्मुख [विमुख] होने और बंधुवर्गों के स्वर्गलोक जाने से हाय हे मन ! (अब तू) अपनी अवस्था (का वर्णन) किससे करेगा और शीतल वचनोंसे तेरे दुःखको कौन शांत करेगा ?

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा पुरेव स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः ।मामद्य मंजुरचनैर्वचनैश्च बाले हा लेशतोऽपि न कथं शिशिरीकरोषि॥ २ ॥

हे बाले! मदनकी सहायता करनेवाली मंद मुसुकानि और रसभरी चितवनिसे विनय पूर्वक (जो, तू मुझे) पहिले प्राप्त हुई; (सो, वही) आज, मधुर वचनोंकी रचनासे हाय मुझे किंचित् भी क्यों नहीं शीतल करती ?

---

१ 'वसंततिलका' छंद ।

सर्वेऽपिविस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता विद्याऽपि खेदकलिता विमुखीबभूव । सा केवलं हरिण-शावकलोचना मे नैवापयाति हृदयादधि-देवतेव ॥ ३ ॥

सर्व विषयभी भूल गए (और) खेदयुक्त (मेरी) विद्या भी विमुखी हुई अर्थात् उसका भी विस्मरण हुआ (परंतु) इष्टदेवता के समान केवल वह मृगशावक लोचनी (कामिनी) मेरे हृदयसे दूर नहीं होती ।

निर्वाणमंगलपदं त्वरया विशंत्या मुक्ता दया-वति दयाऽपि किल त्वयाऽसौ । यन्मां न भा-मिनि निभालयसि प्रभात निलारविंदमदभं-गिमदैः कटाक्षैः ॥ ४ ॥

हे दयावति भामिनि! मोक्षपदको शीघ्रही गमन करने वाली तू ने यह (अपनी) दया भी त्यागी, जो (तू,) प्रातःकालके नीलकमलके मदको भंग करनेवाले कटाक्षोंसे मेरी ओर देखती (भी) नहीं ।

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करं मे या रूढ-वत्यसि शिलाशकलं विवाहे । सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि द्यामारोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति ॥ २ ॥

हे विलासिनि! पदस्खलन भय से मेरे हस्तका अवलं-

बन कर विवाह कालमें जो पाषाणशिला पै चढी उसने! आज मुझे त्याग, स्वर्गको किस प्रकार आरोहण किया? (ऐसे विचार हाय मेरे) हृदयको शतधा (विदार्ण) करते हैं,

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालंकृतिः श्रवणमंगलवर्णराजिः । सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति ॥ ६ ॥

निर्दोष, गुणवती, रसभावपूर्ण अलंकारयुक्त, कोमल अक्षरवाली मेरी कविताके समान, (दुराचारादि) दोषरहित, (गृहिणी) गुणसम्पन्न, (शृंगाररसानुयायि) हावभावपरिपूर्ण अंगाभरणसहित, कर्णानंददायक भाषण करनेवाली वह मन मोहिनी कामिनी कदापि मेरे हृदय से दूर नहीं जाती !

चिंता शशाम सकलाऽपि सरोरुहाणामिंदोश्च बिंबमसमां सुषमामयासीत् । अभ्युद्गतः कलकलः किल कोकिलानां प्राणप्रिये यदवधि त्वमितो गताऽसि ॥ ७ ॥

हे प्राणप्रिये! ज्योंहीं तू इस लोकसे गई (त्योंहीं) कमलों की समस्त चिंता शांत हुई; चन्द्रबिंब महान शोभा को प्राप्त हुआ, (और) कोकिलाओंका कलकल शब्द प्रकट हुआ (जब तक तू वर्तमानथी तब तक तेरी कोमलता देख कमल चिंतामें निमग्न थे कि तेरे अंग उनसे भी अधिक

कोमल हैं, चन्द्रमा अपनेको, तेरे सन्मुख तुच्छ समुझता था और तेरी वीणासदृशवाणीको श्रवण कर कोकिलाओंनें शब्दही करना बंद कर दियाथा; परंतु तुझे स्वर्ग सिधारी जान अब उन सबको हर्ष प्राप्त हुआ है यह भाव)

सौदामिनीविलसितप्रतिमानकांडे दत्त्वा कियंत्यपि दिनानि महेन्द्रभोगान् । मंत्रोज्झितस्य नृपतेरिव राज्यलक्ष्मीर्भाग्यच्युतस्य करतो मम निर्गताऽसि ॥ ८ ॥

सौदामिनी के विलास समान अर्थात् क्षणमात्र ही रहनेवाले, सुरेन्द्र के सेवन योग्य, महान भोगों को कुछ दिन पर्य्यंत देकर (अकस्मात्) अकाल ही में, मुझ भाग्यहीन के हस्त से, मंत्रहीन अर्थात् राजधर्मविहीन राजा की राज्य लक्ष्मी के समान (तू) निकल गई ।

केनापि मे विलसितेन समुद्गतस्य कोपस्य किं नु करभोरु वशंवदाऽभूः । यन्मां विहाय सहसैव पतिव्रताऽपि याताऽसि मुक्तिरमणीसदनं विदूरम् ॥ ९ ॥

हे करभोरु[1] ! क्या तू मेरे किसी अयोग्य विलास से उत्पन्नहुए कोप के वश होगई, जो पतिव्रता होकर भी मुझे सहसा त्याग मुक्तिरूपी रमणी के दूरवर्ती गृह को चली गई

---

१ हस्तीके शुंडके समान हैं जंघा जिसकी ऐसी ।

(पतिव्रता स्त्री पति के घर के बाहर पद भी नहीं धरतीं फिर तू दूरस्थ मुक्तिपदस्थल को कैसे गई यह भाव)

काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे पीयूष-
सारसरसास्तव ये विलासाः । तानंतरेण रम-
णी रमणीयशीले चेतोहरा सुकविता भविता
कथं नः ॥ १० ॥

हे सुशीले ! अमृतरस से भी सरस जो मेरे विलास प्रथम काव्यरूप होकर मेरे मनमें प्रवेश करते थे उनके विना (अब) मेरी कविता, मनोहारिणी (और) रमणीय कैसे होवैगी? (तेरे हाव, भाव, चेष्टाओंको देखमैं काव्य में उनका वर्णन करताथा जिस से श्लोक सरस और प्रशंसनीय होतेथे परंतु अब तेरे न रहने से मेरी कविता में उन गुणोंका होना संभव नहीं यह भाव)

या तावकीनमधुरस्मितकांतिकांते भूमंडले
विफलतां कविषु व्यतानीत् । सा कातराक्षि
विलयं त्वयि यातवत्यां राकाऽधुना वहति वै-
भवमिंदिरायाः ॥ ११ ॥

हे चपलनयने ! तेरी मधुर मुसुकानिकी कांतिसे शोभायमान भूमंडलमें जो पौर्णिमा कवियोंके विषयमें निष्फलताको प्राप्त होती भई, वह मेरे स्वर्गवासिनी होने से अब लक्ष्मीके वैभवको धारण करती है, (पौर्णिमाका शुभ्रत्व प्रशंसनीय है

परंतु तेरी स्मित उससे भी शुभ्र होने के कारण कविजन शुभ्रताके प्रसंग में उसीका वर्णन करतेथे, पौर्णिमाका नहीं परंतु अब तू नहीं रही, इससे पौर्णिमा अत्यानंदित हो महान वैभवको प्राप्त हुई है यह भाव)

मंदस्मितेन सुधया परिषिच्य या मां नेत्रोत्पलैर्विकसितैरनिशं समीजे । सा नित्यमंगलमयी गृहदेवता मे कामेश्वरी हृदयतो दयिता न याति ॥ १२ ॥

सुधारूपी मंदमुसुकानि से सींच जिसने नेत्ररूपी विकसित कमलों से मेरा निरंतर पूजन किया वह नित्यमंगल कारिणी गृहदेवता, सर्वकामपूर्णकर्त्री, कामिनी मेरे हृदयसे नहीं जाती ।

भूमौ स्थिता रमणनाथ मनोहरेति संबोधनैर्यमधिरोपितवत्यसि द्याम् । स्वर्गं गता कथमिव क्षिपसि त्वमेणशावाक्षि तं धरणिधूलिषु मामिदानीम् ॥ १३ ॥

हे मृगशावकलोचने ! भूतल में स्थित रहते 'हे रमण', 'हे नाथ', 'हे मनोहर', इस प्रकार के संबोधनों से जिसे(तू ने) सुरलोक पै आरोहण कराया अर्थात् अमरावती के तुल्य सुख दिया, उसी मुझ को अब (तू) स्वर्ग में जाय धरणीतल धूलि में किस प्रकार डालती है !

लावण्यमुज्ज्वलमपास्ततुलं च शीलं लोको-

त्तरं विनयमर्थमयं नयं च । एतान् गुणान-
शरणानथ मां च हित्वा हा हंत सुंदरि कथं
त्रिदिवं गताऽसि ॥ १४ ॥

हे सुंदरि ! उज्ज्वल लावण्य, अतुल शील, लोकोत्तर वि-
नय, अर्थपूरित नीति, इन शरणहीन गुणों को और मुझको
(भी) छोड हाय (तू) किस प्रकार स्वर्गलोक को गई ?
(उपरोक्त सर्व गुण तुझ में थे, परंतु अब तेरे न रहने से वे
अनाथ हो गए, कारण, उनकी शरणदात्री एक तूही थी
यह भाव)

कांत्या सुवर्णवरया परया च शुद्ध्या नित्यं स्वि-
काः खलु शिखाः परितः क्षिपंतीम् । चेतोहरा-
मपि कुशेशयलोचने त्वां जानामि कोपकलुषो
दहनो ददाह ॥ १५ ॥

हे कमलनयने ! श्रेष्ठ सुवर्णके समान (तेरी) कांति और
परम शुद्धिसे, अपनी शिखा सर्व ओर पराभावित (देख,) तुझ
मनोहारिणीको भी, मेरे जान अग्निने क्रोधित होकर दहन
किया (तेरी कांति और शुद्धि अपनी ज्वाला से भी अधिक
देख अग्निको रोष उत्पन्न हुआ इसीसे उसने तुझे दग्ध किया
यह भाव)

कर्पूरवर्तिरिव लोचनतापहंत्री फुल्लांबुजस्रगिव
कंठसुखैकहेतुः । चेतश्चमत्कृतिपदं कवितेव
रम्या नम्या नरीभिरमरीव हि सा विरेजे ॥ १६ ॥

कर्पूर की वर्तिका [बत्ती] के समान नेत्रोंके ताप को हरण करनेवाली, प्रफुल्लित कमलमाल तुल्य कंठ को सुख देनेवाली चित्त में चमत्कार उत्पन्न करनेवाली कविता के सदृश रमणीय, वह नतगात्री (नायिका) स्त्रियों मे देवांगना के समान शोभायमान थी।

स्वप्नांतरेऽपि खलु भामिनि पत्युरन्यं या दृष्ट-
वत्यसि न कंचन साभिलाषम् । सा संप्रति
प्रचलिताऽसि गुणैर्विहीनं प्राप्तुं कथं कथय
हंत परं पुमांसम् ॥ १७ ॥

हे भामिनी ! जिस (तू) ने, स्वप्न में भी किसी अन्यपति को अभिलाष सहित न अवलोकन किया, सो (वही) अब गुणहीन पर पूरुष को प्राप्त होने के लिए कैसे गई ? (यह तूही) कह. (" गुणैर्विहीनं " और " परं पुमांसम् " में श्लेष है, गुणविहीन पर पूरुष और निर्गुण परब्रह्म दोनों अर्थ व्यंजक हैं)

दयितस्य गुणाननुस्मरंती शयने संप्रति या
विलोकिताऽऽसीत् । अधुना किल हंत सा कृ-
शांगी गिरमंगीकुरुते न भाषिताऽपि[१] ॥ १८ ॥

प्राणत्याग समय सेज पर जो प्रियतमके गुणोंका स्मरण करती हुई देखीगई हाय अब वही कृशाङ्गी भाषण करनेसे भी नहीं बोलती !

---

१ 'माल्यभारा' छंद है ।

रीतिं गिराममृतवृष्टिकरीं तदीयां तां चाकृतिं कविवरैरभिनंदनीयाम् । लोकोत्तरामथ कृतिं करुणारसार्द्रां स्तोतुं न कस्य समुदेति मनः प्रसादः ॥ १९ ॥

इति श्रीमत्पंडितराजजगन्नाथविरचिते भामिनीविलासे करुणा नाम तृतीयो विलासः ॥ ३ ॥

अमृत वृष्टि करनेवाली उसकी वाणीकी रीतिका, कविवरोंसे अभिनंदित उसकी आकृतिका, करुणारसार्द्र उसकी परमोत्तम कृतिका स्तवन करनेको किसका चित्त नहीं आनंदित होता ?

भामिनी विलासके करुणा नाम तृतीय विलासका प्राकृत भाषानुवाद समाप्त हुआ ।

अथ भामिनीविलासे ।

चतुर्थः शांतोविलासः ।

विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानलप्रसृत्वरशिखावलीविकलितं मदीयं मनः । अमंदमिलदिंदिरे निखिलमाधुरीमंदिरे मुकुंदमुखचंदिरे चिरमिदं चकोरायताम्[१] ॥ १ ॥

विशाल विषयरूपी वनमंडलमें लगेहुए दावनलकी प्रसार

---

१ 'पृथ्वी' छंद है ।

पानेवाली ज्वाला की पंक्तियों से विकलित, यह मेरा मन, परम शोभायमान (और) अखिल माधुर्यता के मंदिर श्रीकृष्ण भगवान के मुखरूपी चंद्रमा में, चिरकाल पर्य्यंत चकोर के धर्मका आचरण करै ।

अये जलधिनंदिनीनयननीरजालंबन ज्वलज्ज्वलनजित्वरज्वरभरत्वराभंगुरम् । प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्वंकषैर्जगत्त्रितयरोचनैः शिशिरयाशु मां लोचनैः ॥ २ ॥

हे लक्ष्मीनयनकमलाश्रय! [भगवन्—नारायण] प्रातःकाल कमलके महान गर्वको हरण करनेवाले (अर्थात् कमलसे भी विशेष शोभायमान) और त्रैलोक्यको आनंद देनेवाले अपने नयनोंसे, प्रज्वलित अग्निको जीतनेवाले ज्वरके भारसे मुझ भंगशीलको शीघ्र शीतल करो ।

स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरंती नृणामभंगुरतनुत्विषांवलयिता शतैर्विद्युताम् । कलिंदगिरिनंदिनीतटसुरद्रुमालंबिनी मदीयमतिचुंबिनी भवतु काऽपि कादंबिनी ॥ ३ ॥

मनुष्यों के स्मरणमात्र के करतेही करुण से प्रचंड ताप को हरण करनेवाली, अक्षय है अंग की कांति जिनकी ऐसी अनेक विद्युल्लताओं से वेष्टित, यमुनातट के श्रेष्ठ वृक्षोंका आलंबन करनेवाली, विचित्र मेघमाला, मेरी बुद्धि का वि-

षय होवै (मेरा मन इस मेघमाला का ध्यान किया करै यह भाव) इस श्लोक में मेघमाला को कृष्णमूर्तिमान उसकी आधिक्यता दिखाई हैः—मेघमाला के जल देने से सूर्य का आतप शांत होता है परंतु कृष्णमूर्तिरूपी मेघमाला के स्मरण मात्र से ताप नष्ट होते है; मेघमाला के विद्युल्लताओं की कांति भंगशील है परंतु कृष्णचन्द्र के अंग की काति सदैव स्थिर है; मेघमाला आकाशका आश्रय लेती है, कृष्णमूर्ति यमुना कूल के परम पावन कदंबादि तरुवरों का अवलंब लरती है।

कलिंदगिरिनंदिनीतटवनांतरं भासयन् सदा पथि गतागतश्रमभरं हरन् प्राणिनाम्। लताव-लिशतावृतो मधुरया रुचा संभृतो ममाशु हरतु-श्रमानतितरां तमालद्रुमः॥ ४॥

यमुनाकूलके उपवनमें प्रकाशवान, मनुष्योंके मार्गसंभूत गतागत श्रम भारको हरनेमें (सदैव) समर्थ, अनेक लताओं से आच्छादित, मनोहर कांति संयुक्त, तमाल तरुवर मेरे महान परिश्रमको शीघ्रही हरण करै (इसमें तमाल वृक्षकी कृष्णसे साम्यता की हैः—यमुनाके वनांतरों में दोनों [कृष्ण—तमालद्रुम] दीप्तिमान हैं, तमाल पथिकोंके मार्ग-जनित श्रमको दूर करता है, कृष्ण प्राणियोंके जन्म मरणको नाश करते हैं, तमालको लताओंने आवृत किया है, कृष्ण-चन्द्रको गोपकन्याओंनें; कांतिमान दोनों हीं हैं)

जगज्जालं ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलयञ्ज-
नानां संतापं त्रिविधमपि सद्यः प्रशमयन् । श्रि-
तो वृंदारण्यं नतनिखिलवृंदारकवृतो मम स्वां-
तध्वांतं निरयतु नवीनो जलधरः ॥ ५ ॥

चन्द्रिकारूपी नूतन अमृतसे संसारको परिपूर्ण करनेवाला, मनुष्योंके त्रिविधि संतापको शीघ्रही शांत करनेवाला, वृंदावनवासी, (मस्तक) नम्रकिएहुए अखिल देवगणों से युक्त, नूतन मेघरूपी श्रीकृष्ण भगवान् मेरे अंतःकर्णके अंधकारको नाश करै ।

ग्रीष्मचंडकरमंडलभीष्मज्वालसंसरणतापित-
मूर्तेः । प्रावृषेण्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु
वृष्णिवरेण्यः ॥ ६ ॥

यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण भगवान, वर्षा ऋतु सम्बन्धी मेघवत्, गीष्मर्तु के सूर्य मंडल की अत्युग्र ज्वाल समान संसारजनित ताप से मुझ संतप्त हुए की वेदना हरण करै ।

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ मम भ्रामं
भ्रामं विगलितविरामं जड़मतेः । परिश्रांत-
स्यायं तरणितनयातीरनिलयः समंतात्संतापं
हरिनवतमालस्तिरयतु ॥ ७ ॥

इस अपार संसारके विषम विषयरूपी अरण्यमार्गमें परि-

१ 'स्वागता' छंद है ।

भ्रमण करनेवाले, विश्रामहीन, जडबुद्धि, मुझ श्रमितके समस्त संताप, कृष्ण स्वरूप सदृश यमुना तीरका यह तमालवृक्ष नाश करै।

आलिंगितो जलधिकन्यकया सलीलं लग्नः प्रियंगुलतयेव तरुस्तमालः। देहावसानसमये हृदये मदीये देवश्चकास्तु भगवानरविंदनाभः॥८॥

जैसे तमालवृक्ष से प्रियंगुलता लग्न होजाती है वैसेही प्रेमपूर्वक जलधिकन्या [लक्ष्मी] से आलिंगन कियागया भगवान कमलनाभ नारायण प्राण प्रयाण के समय मेरे हृदय में प्रकाश करै।

नयनानंदसंदोहतुंदिलीकरणक्षमा। तिरयत्वाशु संतापं कापि कादंबिनी मम॥ ९॥

नेत्रौं के आनंदसमूह को अधिकाधिक बढ़ानेमें समर्थ मेघमालारूपी अनिर्वचनीय कृष्णमूर्ति मेरे संताप को शीघ्रही नाश करै।

वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ शिक्षामदास्तां स्वप्नेपि न संस्मराम्यहमहंभावावृतो निस्त्रपः। इत्यागःशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रतस्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तोऽपरः॥ १० ॥

हे नाथ ! सुधा के समान मधुर और निर्मल (श्रुतिरूपी)

वाणी से (तू ने) जो शिक्षा दी, उसे, मैं निर्लज्ज और अहंकारयुक्त होतसाता स्वप्न में भी स्मरण नहीं करता; ऐसे अनेक अपराध करनेवाले मुझे फिर भी तू अपने जनौ (की गिनती) में गिनता है, तस्मात् हे यदुपते ! तुझसे (अधिक दूसरा) दयालु नहीं (और) मुझसे (अधिक दूसरा उन्मत्त नहीं है ।

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरंपरां तर तथाप्याशा न शांतास्तव ।
आधिव्याधिपराहतो यदि सदा क्षेमं निजं वांछसि श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः ॥ ११ ॥

पाताल में प्रवेश कर, वा इन्द्र लोकको प्राप्त हो, वा सुमेरु पै आरोहण कर, वा सप्तसमुद्रके पार जा, परंतु तेरी आशा शांत नहीं, (इससे) आधिव्याधिसे पराहतहुए (हे मन !) यदि तू सदाके लिए अपनी कुशल चाहता है तो श्रीकृष्णरूपी रसायनको सेवन कर, वृथा अन्य परिश्रममें कुछ अर्थ नहीं ।

गणिकाजामिलमुख्यानवता भवता वता मपि॥ सीदन्भवमरुगर्तें करुणामूर्तें न सर्वथोपेक्ष्यः १२ ॥

हे करुणामूर्तें भगवन् ! गणिका और अजामिलादिक (महान पातकियों) को उद्धार करनेवाले तुझे, संसाररूपी

मरुस्थली में व्याकुल हुआ, हाय! जो मैं उसकी सर्वथा उपेक्षा करनी योग्य नहीं।

विदित्वेदं दृश्यं विषमरिपुदुष्टं नयनयोर्विधायांतर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्। विधूतांतर्ध्वांतो मधुरमधुरायां चिति कदा निमग्नः स्यां कस्यांचन नवनभस्यांबुदरुचौ ॥ १३ ॥

इस संसारको विषमशत्रुवत् दुष्ट जान, नेत्रों की मुद्रा को अंतःकरण में स्थापित कर, और (समस्त) विषयों को शीघ्र ही त्याग, अज्ञानान्धकारविगत् होतसाता नवीनमेघ-तुल्यकांतिवाली (श्रीकृष्ण की) अत्यंत मधुर व अवर्णनीय चैतन्यता में कब निमग्न होऊंगा?

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रंभाधरः खंडितः। सत्यं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥ १४ ॥

हे ममजीव! पुनः पुनः संसारमें भ्रमण करके तूने द्राक्षा का स्वाद लिया, शर्करा खाई, उत्तम दुग्धपिया, स्वर्गमें सुधा का भी आस्वादन किया, अनेक वार देवांगनाधर खंडित किये परंतु सत्य कहना, " कृष्ण " इन अक्षरोंका सा मधुर उद्गार कहीं देखा? अर्थात् कहीं नहीं।

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिंबो-दयः । क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ॥ १५ ॥

पापपर्वतको वज्र, संसारसम्बन्धी महान रोगकी सिद्ध औषध, मिथ्याज्ञानरूपी रात्रि के विशाल अंधकारको सूर्य-बिंबोदय, प्रचंडक्लेशरूपी वृक्षको अत्युग्र ज्वालासे प्रज्वलित अग्नि, मोक्षमंदिरका द्वार 'कृष्ण' ऐसे ये वर्णद्वय विजय पावैं ।

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृंदावने चारयन् वृंदं कोऽपि गवां नवांबुदनिभो बंधुर्न कार्य-स्त्वया । सौंदर्य्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मंदस्मितैरेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥ १६ ॥

रे मन! यह मैं तेरे हितकी कहता हूं, वृंदावन में गोवृन्दों को चरानेवाले नूतनमेघवर्ण (श्रीकृष्ण) को तू स्नेही कर, वह, सौन्दर्य्यामृतको आसमंताद्भागमें बरसानेवाली (अपनी) मंदमुसुकानिसे, तुझे मोहित करके तेरी प्रिय विषयवासनाओं को शीघ्रही नाश करैगा ।

अव्याख्येयां वितरति परां प्रीतिमंतर्निमग्ना कंठे लग्ना हरति नितरां यांतरध्वांतजालम् ।

तां द्राक्षाद्यैरपि बहुमतां माधुरीमुद्गिरंतीं कृष्णे-
त्याख्यां कथय रसने यद्यसि त्वं रसज्ञा[1] ॥ १७ ॥

हे जिह्वे ! यदि तू रसज्ञा [रस को जाननेवाली] है तो हृदय में निमग्न होने से जो अवर्णनीय परमोत्कृष्ट प्रीति को देती है (और) कंठमें लग्न होने से अंतर के अंधकार समूह को भली भांति नाश करती है उस, द्राक्षादि पदार्थों से भी विशेष माधुर्यता को देनेवाली ' कृष्ण ' इस आख्या को कह ।

संत्येवास्मिञ्जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपास्ते-
षां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु । यैर-
ध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिश्चित्तारूढं
भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ॥ १८ ॥

इस संसारमें अनेक रम्यरूप पक्षी हैं, परंतु उन सबमें मेरी विशेषवासना चातक में है; कारण, उसके द्वारा उसके मित्र मेघका स्मरण होनेसे कृष्णनामक ब्रह्म चित्तमें आरूढ़ होता है (' स्मरण ' अलंकारहै)

विष्वद्रीच्या भुवनमखिलं भासते यस्य भासा
सर्वासामप्यहमिति विदां गूढमालंबनं यः ।
तं पृच्छंति स्वहृदयमनावेदिनो विष्णुमन्यान-
न्याथोऽयं शिव शिव नृणां केन वा वर्णनीयः ॥१९॥

---

१ ' मंदाक्रांता ' छंद है ।

जिसकी जगद्व्यापिनी भासासे अखिललोक भासमान हैं और सर्व पदार्थों में 'मैं' इस प्रकार के अहंकारिक शब्द की जाननेवालों का जो गूढ़ाश्रय है, ऐसे उस विष्णु भगवान को, अपने हृदय का भेद न जाननेवाले मनुष्य, दूसरों से पूछते हैं, शिव ! शिव ! प्राणियों का यह अन्याय कौन वर्णन कर सकता है ? (भगवान अपने हृदय में वर्तमान होकर तत्संबंधी प्रश्न दूसरे से करना आश्चर्यजनक है यह भाव। इस श्लोक में विपरीत फल की इच्छा का वरणन किया इससे 'विचित्र' अलंकार हुआ।

सेवायां यदि साभिलाषमसि रे लक्ष्मीपतिः से-
व्यतां चिंतायामसि सस्पृहं यदि तदा चक्रा-
युधश्चिंत्यताम्। आलापं यदि कांक्षसि स्मर-
रिपोर्गाथा तदालप्यतां स्वापं वाञ्छसि चेन्निर-
र्गलसुखे चेतः सखे सुप्यताम् ॥ २० ॥

हे मन ! हे मित्र ! यदि सेवा करने की अभिलाषा होवै तो लक्ष्मीपति [विष्णु, भगवान] की सेवाकर; यदि चिंतन करने की स्पृहा होवै तो चक्रायुध [नारायण] का चिंतन कर; यदि कथन करने की इच्छा होवै तो शंकर की कथा कथन कर; यदि शयन करने की आकांक्षा होवै तो ब्रह्मानंद में शयन कर।

भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसंतप्तवपुषो बलादुन्मू-

लयं द्राङ्निगडमविवेकव्यतिकरम् । विशुद्धेऽस्मिन्नात्मामृतसरसि नैराश्यशिशिरे विगाहंते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः ॥ २१ ॥

संसाररूपी ग्रीष्मर्तुके प्रचंड आतपसमूह से संतप्त हुए प्रवर्द्धनीय अविवेक रूपी बंधनको बलसे शीघ्रही तोड़, पातकजालोंको दूरकर, निराशतासे शीतल किएगए इस विशुद्धात्मामृत तडागमें, पुण्यवान जन स्नान करते हैं ।

बंधोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कुर्वते कर्मपाशान्
अंतःशांत्यै मुनिशतमतानल्पचिंतां भजंति ।
तीर्थे मज्जंत्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः सर्वं
प्रामादिकमिह भवभ्रांतिभाजां नराणाम् ॥२२॥

बंधन मुक्त होनेके हेतु कर्मरूपी पाशवाली यज्ञादि क्रियाओं में प्रवृत्ति, अंतःकर्ण की शांतिके निमित्त अनेक मुनियोंके (कहे गए) अनल्प चिंतनका भजन,(संसाररूपी) अशुभ समुद्रके पार जानेके अर्थ तीर्थोंमें मज्जन, इन सब (साधनोंका करना,) इस लोकमें जगद्भ्रांति भ्रमित मनुष्योंकी भूल है (इष्ट पदार्थके प्राप्त्यर्थ अनिष्ट कार्य करना वर्णन किया इससे ‘ विचित्र ’ अलंकार हुआ)

प्रथमं चुंबितचरणा जंघाजानूरुनाभिहृदयानि ।
आश्लिष्य भावना मे खेलतु विष्णोर्मुखाब्जशोभायाम् ॥ २३ ॥

प्रथम चरणों को चुंबन कर (पश्चात्) जंघा, जानु, उरु, नाभि (और) हृदय को आलिंग्य, विष्णु भगवान के मुखकमल की शोभा में मेरा ध्यान लगै (चरणों के चुंबन और जंघा, जानु, इत्यादिक के आलिंगन का तात्पर्य उन उन अंगौं का मन में चिंतन करना है)

मलयानिलकालकूटयो रमणीकुंतलभोगिभोगयोः ॥ श्वपचात्मभुवोर्निरंतरा मम भूयात्परमात्मनि स्थितिः ॥ २४ ॥

मलयाचल पवन और विष में, स्त्रीकेशपाश और सर्पशरीर में, श्वपच और ब्राह्मण में मेरी निरंतर समान बुद्धि होवै ।

निखिलं जगदेव नश्वरं पुनरस्मिन्नितरां कलेवरम् । अथ तस्य कृते कियानयं क्रियते हंत जनैः परिश्रमः ॥ २५ ॥

समस्त संसार नाशवंत है फिर इसमें शरीर तो अत्यंतही (क्षणभंगुर) है; हाय ! उसी के निमित्त मनुष्य कितना परिश्रम करते हैं ।

प्रतिपलमखिलाँल्लोकान्मृत्युमुखं प्रविशतो निरीक्ष्यापि । हा हंत किमिति चित्तं विरमति नाद्यापि विषयेभ्यः ॥ २६ ॥

प्रति क्षण अखिल जनों को मृत्युमुख में प्रवेश करतेहुए

---

१ 'वियोगनी' छंद है ।

देखकर भी, हाय ! विषयवासनाओं से चित्त अद्यापि नहीं विलग होता; यह क्या ?

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतंत्वथवा कृपाणधाराः । अपहरतुतरां शिरः कृतांतो मम तु मतिर्न मनागपैतु धर्मात्[1] ॥ २७ ॥

(चाहे) राज्यलक्ष्मी सत्वर नष्ट हो जावै, चाहै कृपाणधारैं ऊपर से गिरै, (चाहै) कृतांत शिरश्छेदन करै, परंतु मेरा मन किंचित भी धर्म से न चलै ।

अपि बहलदहनजालं मूर्द्धि रिपुर्मे निरंतरं धमतु । पातयतु वासिधारामहमणुमात्रं न किंचिदपभाषे ॥ २८ ॥

शत्रु मेरे मस्तक पै (चाहै) प्रचंड अग्निसमूहको भी निरंतर जलावै अथवा खड्गधार प्रहार करै (परंतु) मैं किंचिन्मात्रभी अपभाषण न करूं (महान कष्ट होने पै भी अपशब्द मुखसे न निकलना चाहिए यह भाव)

तरणोपायमपश्यन्नपि मामक जीव ताम्यसि कुतस्त्वम् । चेतःसरणावस्यां किं नागंता कदापि नंदसुतः ॥ २९ ॥

हे मम जीव ! (भवसागर) से पार होनेका उपाय न करके भी (वृथा) तू क्यों संतप्त होता है ? क्या इस मनरूपी

१ ‘ पुष्पिताग्रा ’ छंद ।

मार्गमें नंदसुवन श्रीकृष्ण भगवान कभी न आवैंगे ? (धैर्य धर और कृष्णस्मरण कर यह भाव)

श्रियो मे मा संतु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृंगावलिमधुरझंकारसुभगाः। निम-
ग्नानां यासु द्रविण मदिरा घूर्णितदृशां सपर्या-
सौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते ॥ ३० ॥

उन्मत्त गजेंद्र घटाओंके (गंडस्थलस्खलित) दानोदक पै भ्रमण करनेवाले मधुकरसमूहके मधुरवसे शोभायमान संपत्तियां मुझे न प्राप्त होवैं; क्योंकि, उन (संपत्तियों) में निमग्न होने (और) द्रव्यरूपी मदिरासे भ्रमिष्टनेत्र हो जानेसे, हरिचरणके पूजनका सुकर अस्त हो जाता है (ऐश्वर्यसंपन्नत्व, हरिभक्तिका बाधक है यहभाव)

किं निःशंकं शेषे शेषे वयसः समागतो मृत्युः॥
अथवा सुखं शयोथा निकटे जागर्ति जाह्नवी
जननी ॥ ३१ ॥

(हे जीव!) निःशंक क्यों शयन करता है? (क्या तू नहीं जानता कि) जरावस्थामें मृत्युका समागम होता है; अथवा (जो सोना ही है तो) निकटही भागीरथी जननी वर्तमान है (उसके तीर पै) सुखसे शयन कर।

संतापयामि किमहं धावंधावं धरातले हृदयम्।

अस्ति मम शिरसि सततं नंदकुमारः प्रभुः परमः ॥ ३२ ॥

पृथ्वी पै धाय धाय मैं क्यों हृदयको संतापित करता हूं ? मेरे (तो) शिर (ही) पै परम प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र संतत निवास करते हैं।

रे रे मनो मम मनोभवशासनस्य पादांबुजद्वयमनारतमानमंतम् । किं मां निपातयसि संसृतिगर्तमध्ये नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः ॥ ३३ ॥

रे मन्मम ! मनोभव [मन से है उत्पत्ति जिसकी अर्थात् कामदेव] के शासन करनेवाले शंकर के युगुल चरण कमलौं को निरंतर नमस्कार करनेवाले मुझे (तू) क्यों संसाररूपी गर्त [गढ़े] में डालता है ? ऐसा करने से तेरा पुत्र का शोक न जावैगा (काम की उत्पाति मनसे सूचित करके उसे मन का पुत्र ठहराया, इस हेतु शंकर से स्वभाव ही मन की शत्रुता होनी चाहिए क्योंकि काम को शंकर ने दग्ध किया है; तात्पर्य यह कि सदाशिवसे तो तेरा वश चलता ही नहीं इस से तू उनके भक्त को दुःख देता है परंतु इस प्रकार पलटा लेने से पुत्र का शोक न जायगा)

मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा

तमालः। रघुपतिमवलोक्य तत्र दूराहषिनि-
करैरिति संशयः प्रपेदे ॥ ३४ ॥

"मरकतमणिरूपी (अल्प) पर्वत शिखर है क्या? अथवा तरुणतर तमाल वृक्ष है क्या?" इस प्रकार रामचन्द्रको वहां दूरसे अवलोकन कर ऋषियोंको संशय हुआ।

तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा
मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुरा
कुतः। इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनत-
त्परैरुदितकुतुकैः कैःकैरादौ न संदिदिहे जनैः ३५

"यह यमुना है क्या? न, (यमुना तो नहीं) वह तो जलमयी है; (फिर) मरकतमणिकी दीप्ति तो नहीं? न (वह भी नहीं क्योंकि यह तो माधुर्य युक्त है और) वह अर्थात् मरकतमणि दीप्ति मधुर नहीं है;" इस प्रकार रामचन्द्रके स्वरूपकी छायाके अवलोकनमें तत्पर और कौतुक युक्त होते हुए कौन कौन मनुष्योंने आदिमें संदेह नहीं किया। (यह संदेह अलंकार है)

चपला जलदाच्च्युता लता वा तरुमुख्यादिति
संशये निमग्नः। गुरुनिःश्वसितैः कपिर्मनीषी
निरणैषीदथ तां वियोगिनीति ॥ ३६ ॥

"मेघ से विलगहुई चपला है? अथवा वृक्षविशेष से वियो-

---

१ 'पुष्पिताग्रा' वृत्त। २ 'हरिणी' छंद। ३ माल्यभारा छंद।

ग को प्राप्त हुई लता है " ? इस प्रकार संशय में निमग्नहुए चतुर (मारुतसुत) कपि ने दीर्घ निश्वासों से निरणय किया कि यह वियोगनी (सीता) है । इसमें निश्चयात्मक ' संदेह ' अलंकार है ।

भूतिर्नीचगृहेषु विप्रसदने दारिद्र्यकोलाहलो नाशो हंत सतामसत्पथजुषामायुः समानां शतम् । दुर्नीतं तव वीक्ष्य कोपदहनज्वालाजटालोऽपि सन् किं कुर्वे जगदीश यत्पुनरहं दीनो भवानीपतिः ॥ ३७ ॥

नीचके घरमें संपत्ति (और) ब्राह्मणके गृहमें अखंड दारिद्र (दिया);सत्पुरुषोंको नाश (और) असत्पथगामीजनों को शतायु (किया); हे जगदीश ! हाय, ऐसी तेरी अनीतिको देख कोपाग्निसे प्रज्वलित होकर भी मैं क्या कर सकता हूं ? तू ने तो साक्षात् शंकरको (भी) दीन किया है !

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधेर्यावंतः संति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशंकं वदंतु । मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥ ३८ ॥

यहां से जगन्नाथराय कुछ स्वकाव्यप्रशंसात्मक पद्य लि-

१ ' स्रग्धरा ' छंद ।

खकर पुस्तक समाप्त करेंगेः—सुमेरुगिरि के मूल से लेकर मलयाचलसे वेष्टित समुद्रके कूल पर्य्यंत अर्थात् सारे भरतखंड में जितने काव्य रचनानिपुण होवैं वे(इस बातको) निःशंक कहैं कि द्राक्षाके मध्य से निकलनेवाली सत्वरसझरी समान मधुशीला वाणीके स्वामित्व पदके अनुभव लेनेको मेरे अतिरिक्त और कौन धन्य है? (मेरे समान रसभरित काव्य अन्य कवि नहीं कर सकता यह भाव)

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा यदीया-
नां वाचाममृतमयमाचामति रसम् । वचस्त-
स्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पंडितपतेरधुन्वन्मूर्धानं
नृपशुरथवायं पशुपतिः ॥ ३९ ॥

वीणा के बजाने में अपने हस्त को शिथिल करके अर्थात् वीणा बजाना छोड़ (प्रत्यक्ष) सरस्वती देवी जिसकी वाणी के अमृतमय रस को पान करती है, उस पंडितपतिके श्रवण सुहावने वचन सुनकर मनुष्यरूपधारीपशु अथवा सदाशिव (के समान केवल योगिजन) शिर नहीं हिलाते । तात्पर्यः—मेरे कवित्व को श्रवण करने में जिन्हैं आनंद नहीं होता उन्हैं केवल पशु अथवा जीवनमुक्त कहना चाहिए ।

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा क-
दाचित्केषांचिन्न खलु विदधीरन्नापि मुदम् ।
ध्रुवं ते जीवंतोऽप्यहह मृतका मंदमतयो न ये-

षामानंदं जनयति जगन्नाथभणितिः ॥ ४० ॥

माक्षिक [शहत,] द्राक्षा [दाख] साक्षात् अमृत व स्त्रीअधरोष्ठरस भी कदाचित चाहै किसी को प्रमुदित न करैं (परंतु) जगन्नाथ की काव्यसे जो आनंदित नहीं होते वे जडबुद्धि (इस संसार) में जीते ही मृतकके समान हैं ।

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यंतपाक-
द्रवन्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गि-
राम् । काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं सं-
मुखे मादृशां नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव
स्वांताद्बहिर्मा कृथाः ॥ ४१ ॥

हे मित्र ! अत्यंत परिपक्कभावको प्राप्त होनेवाली, द्रवीभूत द्राक्षाके रसकी माधुरीके मदको परिहार करने में समर्थ,वाणी के निर्माणमें यदि तू मर्मज्ञ है तो मेरे सन्मुख सुखसे काव्य कथन कर; (परंतु)जो मनमें (किसी प्रकारका) गर्व हो तो (उसे) स्वमुखसे बहिष्कृत न होने दे (मेरे सन्मुख चाहै तो काव्यालाप कर परंतु यदि तेरे मनमें स्वकाव्य विषयक कुछ भी अभिमान होवै तो तेरा कहना उचित नहीं अर्थात् जो तू वैसा करैगा तो मेरे द्वारा तेरा पराभव होगा एक मात्र केवल मेरी काव्य सर्वोत्कृष्ट है यह भाव)

मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण मात्सर्यमग्न-
मनसां सहसा खलानाम् । काव्यारविंदमकरं-

द्रमधुव्रतानामास्येषु धास्यतितमां कियतो विलासान् ॥ ४२ ॥

हे मद्वाणि ! मत्सरभावपूरित खलों के सहसा अनादर से तू विषाद मत कर; काव्यारविंदमकरंद के (लोभी, रसिक जन-रूपी) मधुव्रतों के मुख में तू अनेक प्रकारके विलासों को धारण करैगी । (रसज्ञ तेरा महान आदर करैं गे यह भाव)

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमा भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णि-ताः । आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालसस्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विपाको मम ॥ ४३ ॥

धरातलमे विद्वज्जन अन्यकृत काव्यकी प्रशंसा में मूक (हो रहे हैं); भूपाल, संपत्तिरूपी मदिराके मद से भ्रमिष्ठ (भावको प्राप्त हुए हैं; अत एव काव्यके प्रकाश होनेके दोनों मार्ग न रहने से) कामालस अप्सराओंके अधरकी माधुर्य्यता को जीतने वाला, मेरी वाणीका विपाक [फल—अर्थात् कवित्व] इस समयमें किस धन्यके मुखमें नृत्य करैगा ?

धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम् । वं-द्यैव माधुरीयं पंडितराजस्य कवितायाः ॥ ४४ ॥

पंडितराज (जगन्नाथ) की कविताकी माधुरी, द्राक्षा, दुग्ध, ईख, माक्षिक [शहत] इत्यादिककी महान माधुर्यसे

भी वंदन किये जानेके योग्य है (इन पदार्थोंसे भी विशेष मधुर है यह भाव)

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविता दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतंनवीनं वयः। संप्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते सर्वं पंडितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥ ४५ ॥

पंडितराजश्रेणी के तिलकभूत (जगन्नाथराय) ने सर्व लोकाधिक कृत्य किये—शास्त्रों का अध्ययन किया, (सन्ध्या वंदनादिक) सकल नित्यविधि भी साधे, युवावस्था दिल्लीनरेश के हस्तपल्लव तले[1] बिताई, (और) अब इस समय विषय वासनाओंको त्याग मथुराक्षेत्र में भगवान नारायण का सेवन करते हैं।

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यंतीति शंकया।
मदीय पद्यरत्नानां मंजूषैषा मया कृता ॥ ४६ ॥

इति श्रीमत्पंडितराजजगन्नाथविरचिते भामिनी विलासे शांतो नाम चतुर्थो विलासः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं ग्रंथः।

---

१ यौवनकाल में मैने अनेक भोग भी भोगे यह सूचित किया।

दुष्ट रंडापुत्र (इनका) हरण करैंगे इस शंका से अपने पद्यरूपी रत्नौं की यह पेटी मैने बनाई।

भामिनीविलास के शांत नामक चतुर्थ विलास का प्राकृत भाषांतर समाप्त हुआ।





और बहुतही स्पष्ट रोचक किया गयाहै इसपुस्तकके केवल पास होनेसे मनुष्य सम्पूर्ण अंगके शुभाशुभ लक्षण कहसक्ताहै ऐसी उत्तम पुस्तक आजदिन पर्य्यन्त अन्यत्र कहीं नहीं छपी पुस्तक बहुत बड़ा और सुंदर होने परभी सर्वला धारणके सुलभार्थ किमत केवल (१) रु० मात्रहै ।

लीलावती गणित.

(भाषाटीका समेत.)

यह सद्गणितकी परिपाटी श्रीमान् भास्कराचार्यजीनें निर्माण किया है. इसमें गणित प्रकरणके अनेकानेक स्पष्ट नियम बांधे है. और प्रत्येक नियमके स्पष्टीकरणार्थ बहोत बहोत उदाहरण दिये हैं. इस संस्कृत ग्रंथका सर्व साधारणोंको ज्ञान लाभहोनेंके वास्तै हमनें सरल सुबोध स्पष्ट उदाहरणोंसमेत और अन्वयके साथ हिंदीमें भाषाटीका करवायके निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापखानेमें चिकने पुष्ट कागदपर छापके प्रसिद्ध करी है. यह पुस्तक सर्व गणिताभ्यासी साधारण क्षात्रोंको बहोत उपयोगी और आवश्यक है ऐसी सविस्तर भाषाटीका अन्वयसहित कहींभी नहीं छपी. सबके सुगमार्थ मूल्य बहोतही स्वल्प केवल १॥ रु० रक्खाहै.

पुस्तकमिलनेकाठिकाना—

खेमराज श्रीकृष्णदास

श्रीवेंकटेश्वर छापखाना मुंबई.